मनोरंजन पुस्तकमाला-२

संपादक

श्यामसुंदरदास, बी० ए०

हिंदी निबंधमाला

दूसरा भाग

संग्रहकर्त्ता

श्यामसुंदरदास, बी० ए०
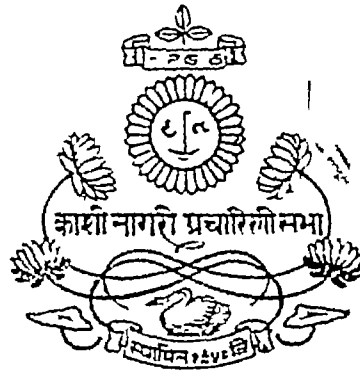
काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की अनुमति से

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

संशोधित संस्करण] .. सं० १९९० [मूल

निवेदन

हिंदी में उत्तम कोटि के निबंधों का कोई ऐसा संग्रह अब तक प्रकाशित नहीं हुआ जो भावों तथा भाषा के विचार से उच्च कोटि का हो और जो ऊँची कक्षाओं के विद्यार्थियों के हाथ में इस उद्देश्य से दिया जा सके कि वे उसे आदर्श मानकर अपनी लेखन-शैली तथा विषय-प्रतिपादन रीति को सुधार सकें। इस अभाव की पूर्ति के उद्देश्य से यह संग्रह प्रस्तुत किया गया है। पहले भाग में अपेक्षाकृत सरल लेखों का संग्रह है तथा दूसरे भाग में उससे कठिन लेखों का संग्रह है। भाषा की कठिनता या सरलता केवल शब्दों की तत्समता या तद्भवता पर निर्भर नहीं है। विचारों की गूढ़ता, विषय-प्रतिपादन की गंभीरता, मुहाविरों की प्रचुरता, आनुषंगिक प्रयोगों की योजना और पदों की जटिलता तथा इन गुणों की न्यूनता ही भाषा को कठिन या सरल बनाती है। यही उद्देश्य सामने रखकर यह संग्रह उपस्थित किया गया है।

श्यामसुंदरदास

विषय-सूची

हिंदी निबंधमाला

दूसरा भाग

(१) चंद्रोदय

अँधेरा पाख बीता उजेला पाख आया। पश्चिम की ओर सूर्य डूबा और वक्राकार हँसिया की तरह उसी दिशा मे दिखलाई पड़ा। मानो कर्कशा के समान पश्चिम दिशा सूर्य के प्रचंड ताप से दुखी हो क्रोध में आ इसी हँसिया को लेकर दौड़ रही है और सूर्य भयभीत हो पाताल में छिपने के लिये जा रहा है। अब तो पश्चिम ओर आकाश सर्वत्र रक्तमय हो गया। क्या सचमुच ही इस कर्कशा ने सूर्य का काम तमाम किया जिससे रक्त बह निकला, अथवा सूर्य भी क्रुद्ध हुआ जिससे उसका चेहरा तमतमा गया और उसी की यह रक्त आभा है? इस्लाम धर्म के माननेवाले नए चंद्र की बहुत बड़ी इज्जत करते हैं सो क्यों? मालूम होता है इसी लिये कि दिन दिन क्षीण होकर नाश को प्राप्त होता हुआ चंद्रमा मानों सबक देता है कि रमजान मे अपने शरीर को इतना सुखाओ कि वह नष्ट हो

जाय। तब देखो कि उत्तरोत्तर कैसी वृद्धि होती है। अथवा यह कालरूपी श्रोत्रिय ब्राह्मण के नित्य जपने का ओंकार महा-मंत्र है; या अंधकार महाराज के हटाने का अंकुश है, या विर-हिणियों के प्राण कतरने की कैंची है; अथवा शृंगार रस से पूर्ण पिटारे के खोलने की कुंजी है; या तारामौक्तिकों से गुँथे हार के बीच का यह सुमेर है; अथवा जंगम जगत्-मात्र को डसनेवाले अनंग भुजंग के फन पर का चमकता हुआ मणि है; या निशानायिका के चेहरे की मुस्कराहट है; या संध्यानारी के काम-केलि के समय में उसकी छाती पर लगा हुआ नखक्षत है; अथवा जगज्जेता कामदेव की धन्वा है; या तारा मोतियों की दो सीपियों में से एक सीपी है।

इसी प्रकार दूज से बढ़ते बढ़ते यह चंद्र पूर्णता को पहुँचा। यह पूनो का पूरा चाँद किसके मन को न भाता होगा? यह गोल गोल प्रकाश का पिंड देख भाँति भाँति की कल्पनाएँ मन में उदय होती हैं कि क्या यह निशा अभिसारिका के मुख देखने की आरसी है; या उसके कान का कुंडल अथवा फूल है; या रजनी रमणी के लिलार पर बुक्के का सफेद तिलक है; अथवा स्वच्छ नीले आकाश मे यह चंद्र मानों त्रिनेत्र शिव की जटा में चमकता हुआ कुंद के सफेद फूलों का गुच्छा है। कामवल्लभा रति की अटा में कूजता हुआ यह कबूतर है, अथवा आकाशरूपी बाजार में तारारूपी मोतियों का बेचनेवाला सौदागर है। कूई की कलियों को विकासित करते मृगनयनियों

के मान को समूल उन्मूलित करते, छिटकी हुई चाँदनी से सब दिशाओं को धवलित करते, अंधकार को निगलते चंद्रमा सीढ़ी दर सीढ़ी शिखर के समान आकाशरूपी विशाल पर्वत के मध्य भाग में चढ़ा चला आ रहा है। चपा-तम-कांड का हटानेवाला यह चंद्रमा ऐसा मालूम होता है मानों आकाश महासरोवर में श्वेत कमल खिल रहा है जिसमे बीच बीच जो कलंक की कालिमा है सो मानों भौंरे गूँज रहे हैं। अथवा सौंदर्य की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी के स्नान करने की यह बावड़ी है, या कामदेव की कामिनी रति का यह चूना पोता धवल गृह है, या आकाश-गंगा के तट पर विहार करनेवाला हंस है जो सोती हुई कुइयों को जगाने को दूत बनकर आया है; या देव-नदी आकाश-गंगा का पुंडरीक है, या चाँदनी का अमृत कुंड है, अथवा आकाश में जो तारे देख पड़ते हैं वे सब गौएँ हैं उनके झुंड में यह सफेद बैल है; या यह हीरे से जड़ा हुआ पूर्व दिगंगना का कर्णफूल है; या कामदेव के बाणों को चोखा करने के लिये शान धरने का सफेद गोल पत्थर है या संध्या-नायिका के खेलने का गेंद है। इसके उदय से पहिले सूर्यास्त की किरणों से सब ओर जो ललाई छा गई है सो मानों फागुन में इस रसिया चंद्र ने दिगंगनाओं के साथ फाग खेलने में अबीर उड़ाई है, वही सब ओर आकाश में छाई हुई है। अथवा निशा योगिनी ने तारा-प्रसून-समूह से कामदेव की पूजा कर यावत् कामी जनों को अपने वश में करने

के लिये छिटकी हुई चाँदनी के बहाने वशीकरण बुक्का उड़ाया है; अथवा स्वच्छ नीले जल से भरे आकाश-हौदा मे कालमहागणक ने रात के नापने को एक घटीयंत्र छोड़ रक्खा है; अथवा जगद्‌विजयी राजा कामदेव का यह श्वेत छत्र है; वियोगीमात्र को कामाग्नि मे झुलसाने को यह दिनमणि है, कंदर्प-सीमंतिनी रतिदेवी की छप्पेदार करधनी का टिकड़ा है, या उसी मे जड़ा चमकता हुआ सफेद हीरा है; या सब कारीगरों के सरताज आतशबाज की बनाई हुई चरखियों का यह एक नमूना है; अथवा महापथगामी समय-राज के रथ के सूर्य और चंद्रमा-रूपी दो पहियों में से यह एक पहिया है जो चलते चलते घिस गया है। इसी से बीच में कलाई देख पड़ती है; अथवा लोगों की आँखों और मन को तरावट और शीतलता पहुँचानेवाला यह बड़ा भारी बर्फ का कुंड है, इसी से वेदों ने परमेश्वर के विराट-वैभव के वर्णन मे चंद्रमा को मन और नेत्र माना है; या काल-खिलाड़ी के खेलने का सफेद गेंद है, समुद्र के नीले पानी में गिरने से सूखने पर भी जिसमे कहीं कहीं नीलिमा बाकी रह गई है; या तारे-रूपी मोतीचूर के दानों का यह बड़ा भारी पनसेरा लड्डू है; अथवा लोगों के शुभाशुभ काम का लेखा लिखने के लिए यह बिल्लोर की गोल दवात है; या खड़िया मिट्टी का बड़ा भारी ढोका है; या काल-खिलाड़ी की जेबी घड़ी का डायल है; या रजत का कुंड है; या आकाश के नीले गुंबज मे संगमरमर का गोल

शिखर है। शिशिर और हेमंत मे हिम से जो इसकी द्युति दब जाती है सो मानो यह तपस्या कर रहा है जिसका फल यह चित्रा के संयोग से शोभित हो चैत्र की पूनों के दिन पावेगा, जब इसकी द्युति फिर दामिनि सी दमकेगी। इसी से कविकुलगुरु कालिदास ने कहा है—

"हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचन्द्रमसोरिव।"

—बालकृष्ण भट्ट

(२) अकबर का धार्मिक विश्वास और दीन इलाही

यद्यपि अकबर ने विद्या और शिल्प-कला संबंधी ग्रंथ आदि नहीं पढ़े थे, तथापि वह अच्छे अच्छे विद्वानों से पढ़कर विद्या और कला आदि का प्रेमी था और सदा नई नई बातों और आविष्कारों के मार्ग ढूँढ़ता रहता था। उसकी हार्दिक इच्छा थी कि जिस प्रकार मैं वीरता, दानशीलता और देशों पर विजय प्राप्त करने में प्रसिद्ध हूँ, और जिस प्रकार मेरा देश प्राकृतिक दृष्टि से सब प्रकार के पदार्थ उत्पन्न करने और उपजाऊ होने के लिये प्रसिद्ध है उसी प्रकार विधा और कला आदि में भी मेरी प्रसिद्धि हो। उसे यह भी मालूम हो गया था कि विद्या और कला के सूर्य ने यूरोप मे सवेरा किया है। इसलिये वह वहाँ के विद्वानों और दक्षों की चिंता में रहा करता था। यह एक प्राकृतिक नियम है कि जो ढूँढ़ता है, वही पाता भी है। उसके लिये साधन आपसे आप उत्पन्न हो जाते हैं। इस संबंध मे जो सुयोग आए थे, उनमे से कुछ का वर्णन यहाँ किया जाता है।

सन् ९७९ हि० मे इब्राहीम हुसेन मिरजा ने विद्रोह करके सूरत बंदर के किले पर अधिकार कर लिया। बादशाही

सेना ने वहाँ पहुँचकर घेरा डाला। स्वयं अकबर भी चढ़ाई करके वहाँ पहुँचा। उन दिनों यूरोप के व्यापारियों के जहाज वहाँ आया जाया करते थे। मिरजा ने उन्हें लिखा कि यदि तुम लोग इस समय आकर मेरी सहायता करो, तो मैं तुम्हे यह किला दे दूँगा। वे लोग आए, पर बड़े ढंग से आए। अपने साथ बहुत से विलक्षण और नए नए पदार्थ भेंट के रूप में लाए। जब लड़ाई के मैदान में पहुँचे, तब देखा कि सामने का पल्ला भारी है; इनके मुकाबले हम विजयी न हो सकेंगे; इसलिये झट रंग बदलकर राजदूत बन गए और कहने लगे कि हम तो अपने राज्य की ओर से दूतत्व करने के लिये आए हैं। दरबार मे पहुँचकर उन्होंने बहुत से पदार्थ भेंट किए और बहुत सा इनाम तथा पत्र का उत्तर लेकर चलते बने।

अकबर की आविष्कारप्रिय प्रकृति कभी निश्चल न रहती थी। आजकल कलकत्ते और बंबई की भाँति उन दिनों गोआ और सूरत ये दो बंदर थे; जहाँ एशिया और यूरोप के देशों के जहाज आकर ठहरा करते थे। उक्त युद्ध के कई वर्षों के उपरांत अकबर ने हाजी हबीबुल्ला काजी को बहुत सा धन देकर गोआ भेजा। उनके साथ अनेक विषयों के अच्छे अच्छे पंडित और शिल्पकार भी थे। ये लोग इसलिये भेजे गए थे कि गोआ में जाकर कुछ दिनों तक रहें और वहाँ से यूरोप की बनी हुई अच्छी अच्छी चीजें लेकर आवे। इन लोगों से यह भी कह दिया गया था कि यदि यूरोप के कुछ

कारीगर और शिल्पी यहाँ आ सकें, ते उनको भी अपने साथ लेते आना। सन् ९८४ हि० में ये लोग वहाँ से लौटे। इनके साथ अनेक प्रकार के नए और विलक्षण पदार्थों के अतिरिक्त बहुत से कारीगर और शिल्पी भी थे। जिस समय इन लोगों ने नगर मे प्रवेश किया था, उस समय मानों विलक्षण वस्तुओं और विलक्षण मनुष्यों की एक बारात सी बन गई थी। नगर के हजारों युवक और वृद्ध इनके साथ साथ चल रहे थे। बीच मे बहुत से यूरोपियन अपने देश के वस्त्र पहने हुए थे। वे लोग अपने देश के बाजे बजाते हुए नगर मे घूमकर दरबार में उपस्थित हुए। अरगन बाजा पहले पहल उन्हीं के साथ भारत मे आया था। उस समय के इतिहासकार लिखते हैं कि इस बाजे को देखकर सब लोग चकित हो गए थे।

इन कारीगरों और शिल्पियों ने अकबर के दरबार मे जो आदर और प्रतिष्ठा पाई होगी, उसका समाचार यूरोप के प्रत्येक देश मे पहुँचा होगा। वहाँ भी बहुत से लोगों के मन मे आशाओं का संचार हुआ होगा। उनमे से कुछ लोग हुगली बंदर तक आ पहुँचे होंगे। अमीरों और दरबारियों की कारगुजारी जिधर बादशाह का शौक देखती है, उधर ही पसीना टपकाती है। अबुलफजल ने अकबरनामे मे लिखा है कि सन् २३ जलूसी मे हुसैन कुलीखाँ ने कूचबिहार के राजा से अधीनता-सूचक पत्र लिखवाकर भेजा और उसके साथ ही उस देश के बहुत से नए और अद्भुत पदार्थ भेजे।

तावबारसो* नामक यूरोपियन व्यापारी भी दरबार में उपस्थित हुआ, और बासोबार्न† तो बादशाह की सुशीलता और गुण देखकर चकित रह गया। अकबर ने भी उन लोगों की बुद्धिमत्ता और सभ्यता का अच्छा आदर किया।

सन् ३५ जलूसी के हाल में अबुलफजल लिखते हैं कि पादरी फरेबतोन‡ गोआ बंदर से उतरकर दरबार में उपस्थित हुए। वे अच्छे बुद्धिमान् और बहुत से विषयों के पंडित थे। होनहार शाहजादे उनके शिष्य बनाए गए। अनेक यूनानी ग्रंथों के अनुवाद की सामग्री एकत्र की गई और शाहजादों को सब बातों की जानकारी कराने की व्यवस्था की गई। इन पादरी महाशय के अतिरिक्त और भी बहुत से फिरंगी, जरमन और हबशी आदि अपने अपने देश से भेंट करने के लिये अनेक उत्तमोत्तम पदार्थ लाए थे। अकबर देर तक उन सबको देखकर प्रसन्न होता रहा।

सन् ४० जलूसी में फिर कुछ लोग उसी बंदर से आए थे और अपने साथ अनेक नवीन और अद्भुत पदार्थ लाए थे।

---

* यह नाम संदिग्ध है। इलियट के अनुसार मूल में "परताब वार" है। Elliot's History of India, Vol. VI, P. 59.

† इस नाम में भी संदेह है। इलियट के अनुसार मूल में "बसूरबा" है। Ibid.

‡ यह नाम भी ठीक नहीं जान पड़ता। इलियट के अनुसार मूल में "फरम लियून" (فرمليون) है। Ibid P. 85।

उनमे कुछ बुद्धिमान् ईसाई पादरी भी थे, जिन पर बादशाह ने बहुत कृपा की थी।

मुल्ला साहब लिखते हैं कि ईसाइयों के धार्म्मिक आचार्य्य पादरी लोग आए। ये लोग समय को देखकर आज्ञाओं में परिवर्तन कर सकते हैं और बादशाह भी इनकी आज्ञाओं का विरोध नहीं कर सकता। ये लोग अपने साथ इंजील लाए थे, और इन्होंने अनेक प्रमाणों तथा युक्तियों से अपने धार्मिक सिद्धांत का समर्थन करके ईसाई धर्म का प्रचार आरंभ किया। इन लोगों का बहुत आदर-सत्कार हुआ। बादशाह इन लोगों को प्रायः दरबार से बुलाया करता था और धार्मिक तथा सांसारिक विषयों पर इनकी बातें सुना करता था। वह उनसे तौरेत और इंजील के अनुवाद भी कराना चाहता था। अनुवाद का कार्य आरंभ भी हो गया था, पर पूरा न हो सका। शाहजादा मुराद को उनका शिष्य भी बना दिया। एक और स्थान पर मुल्ला साहब फिर लिखते हैं कि जब तक ये लोग रहे, तब तक अकबर इन पर बहुत कृपा रखता था। ये लोग अपने ईश-प्रार्थना के समय कई प्रकार के बाजे बजाते थे, जो अकबर ध्यान से सुनता था। मालूम नहीं, शाहजादे जो भाषा सीखते थे, वह रूमी थी या इब्रानी। मुल्ला साहब ने यद्यपि सन् नहीं लिखा है, तथापि लक्षणों से जान पड़ता है कि शाहजादा मुराद पादरी फरेबतोन का ही शिष्य बनाया गया था। शायद वे उसे अपनी यूनानी

भाषा सिखाते होंगे, जिसका कुछ संकेत अबुलफजल ने भी किया है। यह सब कुछ है, पर हमारी पुस्तकों से यह पता नहीं चलता कि इन लोगों के द्वारा किन किन पुस्तकों के अनुवाद हुए थे। हाँ, खलीफा सैयद मुहम्मद हसन साहब के पुस्तकालय में मैंने एक पुस्तक अवश्य ऐसी देखी थी, जो अकबर के समय में लैटिन भाषा से भाषांतरित हुई थी।

मुल्ला साहब लिखते हैं कि एक अवसर पर शेख कुतुबुद्दीन जालेसरी को, जो बड़े विकट खुराफाती थे, लोगों ने पादरियों के साथ वाद-विवाद करने के लिये खड़ा किया। शेख साहब बहुत ही आवेश-पूर्वक सामने आ खड़े हुए और बोले कि खूब ढेर सी आग सुलगाओ; और जिसे दावा हो वह मेरे साथ आग में कूद पड़े। जो उसमें से जीवित निकल आवे उसी का धार्मिक सिद्धांत ठीक समझा जाय। आग सुलगाई गई। उन्होने एक पादरी की कमर में हाथ डालकर कहा—"हाँ, आइए।" पादरियों ने कहा कि यह बात बुद्धिमत्ता के विरुद्ध है। अकबर को भी शेख की यह बात बुरी लगी। और वास्तव में यह बात ठीक भी नहीं थी। ऐसी बात कहना मानों अप्रत्यक्ष रूप से यह मान लेना है कि हम कोई बुद्धिमत्ता-पूर्ण तर्क नहीं कर सकते। फिर अतिथियों का चित्त दु:खी करना न तो धार्मिक दृष्टि से ही ठीक है और न नैतिक दृष्टि से ही।

अकबर तिब्बत और खता के लोगों से भी वहाँ के हाल सुना करता था। जैनियों और बौद्धों के भी ग्रंथ सुना करता था।

हिंदुओं के भी सैकड़ों संप्रदाय और हजारों धर्मग्रंथ हैं। वह सब कुछ सुनता और सबके संबंध मे वाद-विवाद करता था।

कुछ ऐसे दुष्ट मुसलमान भी निकल आए थे, जिन्होंने एक नया संप्रदाय खड़ा कर लिया था। इन लोगों ने नमाज, रोजा आदि सब कुछ छोड़ दिया था और दिन-रात शराब, कबाब और नाच-रंग में मस्त रहना आरंभ कर दिया था। विद्वानों और मौलवियों आदि ने उन्हें बुलाकर समझाया कि अपने इन असभ्य व्यवहारों से तोबा करो। उन लोगों ने उत्तर दिया कि हम लोगों ने पहले तोबा कर ली है, तब यह संप्रदाय ग्रहण किया है।

इन्हीं दिनों में कुछ मौलवी और मुल्ला आदि भी साम्राज्य से निर्वासित करने के लिये चुने गए थे। कुछ व्यापारी कंधार की ओर जानेवाले थे। इन लोगों को भी उन्हीं के साथ कर दिया गया और व्यापारियो के प्रधान से कह दिया गया कि इन लोगों को वहीं छोड़ आना। वे व्यापारी कंधार से विलायती घोड़े ले आए, जो बहुत ही उपयोगी थे; और इन लोगों को वहाँ छोड़ आए; क्योंकि ये निकम्मे थे, बल्कि काम बिगाड़नेवाले थे। जब समय बदलता है, तब इसी प्रकार के परिवर्त्तन किया करता है।

इन सब बातों का तात्पर्य यह है कि भिन्न भिन्न प्रकार के ज्ञानों का भांडार एक ऐसे अशिक्षित मस्तिष्क मे भरा, जिसमें आरंभ से अब तक कभी सिद्धांत और नियम आदि का प्रति-विंब भी न पड़ा था। अब पाठक स्वयं ही समझ लें कि

उसके विचारों की क्या दशा होगी। इतना अवश्य है कि उसकी नीयत कभी किसी प्रकार की बुराई की ओर नहीं थी। वह यह भी समझता था कि सभी धर्मों के आचार्य अच्छी नीयत से लोगों को सत्य के उपासक बनाना चाहते हैं और उनको अच्छे मार्ग पर लाना चाहते हैं; और उन्होंने अपने धार्मिक सिद्धांत, विश्वास और व्यवस्थाएँ आदि अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार अपने समय को देखते हुए भलाई, सुशीलता और सभ्यता की नींव पर स्थित किए थे। यह नेक-नीयत बादशाह जिस बात को सबसे बढ़कर समझता था, वह यह थी कि परमात्मा सबका स्वामी है और सब कुछ कर सकता है। यदि समस्त सत्य सिद्धांत किसी एक ही धर्म की कोठरी में बंद होते, तो ईश्वर उसी धर्म को पसंद करता और उसी को संसार मे रहने देता, बाकी सबको नष्ट-भ्रष्ट कर देता। परंतु जब उसने ऐसा नहीं किया, तब इससे यही सिद्ध होता है कि उसका कोई एक धर्म नहीं है, बल्कि सब धर्म उसी के हैं। बादशाह ईश्वर की छाया होता है इसलिये उसे भी यही समझना चाहिए कि सभी धर्म मेरे हैं।

इस वास्ते उसे इस बात का शौक नहीं था कि सारा संसार मुसलमान हो जाय और इस पृथ्वी पर मुसलमान के अतिरिक्त और किसी धर्म का कोई आदमी दिखाई ही न दे। इसी लिये उसके दरबार मे इस धार्मिक झगड़े के बहुत से मुकदमे उप-

स्थित होते थे। उनमें से एक मुकदमा तो यहाँ तक बढ़ा कि शेख सदर या प्रधान धार्मिक विचारपति की जड़ ही उखड़ गई।

हिंदू हरदम अकबर के साथ लगे रहते थे। उनसे हर एक बात पूछने का अवसर मिलता था। वे भी बहुत दिनों से ईश्वर से प्रार्थना कर रहे थे कि कोई पूछनेवाला उत्पन्न हो। अकबर को सब बातें जानने का शौक था, इसलिये उसे इनकी ओर प्रवृत्ति होने का और भी अधिक अवसर मिला। सत्य का अन्वेषक बादशाह गौतम नामक एक ब्राह्मण पंडित को, जिससे आरभ मे सिहासन-बत्तीसी का अनुवाद कराया गया था, प्रायः बुलवाकर बहुत सी बातें पूछा और जाना करता था। मुल्ला साहब कहते हैं कि महल के ऊपरी भाग मे एक कमरा था, जो ख्वाबगाह (शयनागार) कहलाता था। अकबर उसकी खिड़की मे बैठता था और एकांत के समय देवी नामक ब्राह्मण को, जो महाभारत का अनुवाद कराया करता था, एक चारपाई पर बैठाकर रस्सियों से ऊपर खिंचवा लिया करता था। इस प्रकार वह ब्राह्मण अधर मे लटकता रहता था; न जमीन पर रहता था और न आसमान पर। अकबर उससे अग्नि, सूर्य, ग्रह, प्रत्येक देवी-देवता—ब्रह्मा, विष्णु, महेश, कृष्ण, राम आदि—की पूजाओं के प्रकार और मंत्र आदि सीखा करता था। वह हिंदुओं के धार्मिक सिद्धांत तथा पौराणिक कथाएँ आदि बहुत ही ध्यान

और शौक से सुना करता था तथा चाहता था कि हिंदुओं के सभी धार्मिक ग्रथों के अनुवाद हो जायँ।

मुल्ला साहब कहते हैं कि सन् ३० जलूसी के उपरांत जमाने का रंग बिलकुल बदल गया; क्योंकि कुछ धर्म-विक्रेता मुल्ला भी अकबर के साथ मिल गए थे। यदि किसी भविष्यद्वाणी की चर्चा होती, तो अकबर उस पर आपत्ति करता था। यदि दैवी आभास की बात छिड़ती थी, तो वह चुप हो जाता था; यदि किसी करामात, देव, जिन, परी आदि ऐसी चीजों का जिक्र होता था, जो कभी आँख से दिखाई न पड़ती थीं, तो वह उनकी बातें बिलकुल नहीं मानता था। यदि कोई कहता था कि कुरान शाश्वत है अथवा स्वयं ईश्वर का कहा हुआ है, तो अकबर उसके लिये प्रमाण माँगा करता था।

पुनर्जन्म आदि के संबंध में निबंध लिखे गए और यह निश्चय हुआ कि यदि मरने के उपरांत भी पाप या पुण्य बना रहता है, तो वह पुनर्जन्म और परजन्म बिना हुए हो ही नहीं सकता। इस संबंध में बहुत वाद विवाद हुआ करता था।

जब खान आजम काबे से लौटे, तब संसार देख आने के कारण उन्हें कुछ बुद्धि आ गई थी। पहले उन्होंने जो दाढ़ी बढ़ाई थी, वह अकबर के सामने पहुँचकर मुँड़वा डाली। इन्हीं खान आजम की दाढ़ी के सबंध में पहले बड़ी बड़ी बातें हुई थीं, जो इनके विवरण में दी गई हैं। सन् ९९० हि० में ये एक युद्ध से लौटे थे। बादशाह बैठा हुआ बहुत प्रसन्नता-

पूर्वक इनसे बातें कर रहा था। इसी बीच में उसने कहा कि हमने जन्मांतर के संबंध मे बहुत से तर्क-पूर्ण सिद्धांत स्थिर किए हैं। शेख अबुलफजल तुमको समझा देगे और तुम उनको मान लोगे। बेचारे खान आजम मानने के सिवा और कर ही क्या सकते थे।

एक बहुत बड़े खानदानी शेख थे। देवी पंडित को ख्वाबगाह मे जाते देखकर उन्हें भी शौक चर्राया। छल-कपट की कमंद लगाकर वे भी ख्वावगाह तक पहुँचने लगे। उन्होंने कुरान और पुराणों की बहुत सी बातों का सामंजस्य स्थापित करके दिखलाया, ब्रह्म की एकता की नींव रखकर उस पर "सोऽहं" की मीनार खड़ी की और परम नास्तिक फरऊन* को भी परम आस्तिक प्रमाणित करके सिद्ध कर दिया कि सभी लोग किसी न किसी रूप मे आस्तिक और धार्मिक होते हैं। बल्कि उन्होंने बादशाह को यह भी विश्वास दिलाया कि पाप के दुष्परिणाम का भय सदा मुक्ति की आशा के सामने दबा रहता है। मुक्ति की आशा सभी को लगी रहती है; और इसी लिये वे पाप से डरते रहते हैं। उन्होंने यह भी

---

*: बलख का रहनेवाला एक प्रसिद्ध अभिमानी और नास्तिक, जो अपनी धूर्तता के कारण मिस्र का बादशाह हो गया था और जो अपने आपको 'ईश्वर' कहा करता था। इसने बनी इसराईल जाति तथा हजरत मूसा को बहुत तंग किया था। कहते है कि ईश्वर के कोप के कारण यह नील नदी मे डूबकर मरा था।

प्रमाणित कर दिया कि पहले जो पैगंबर थे, वही अब खलीफा हैं। और नहीं तो कम से कम उनके प्रतिबिंब तो अवश्य हैं। वही सबकी आवश्यकताएँ और इच्छाएँ पूरी किया करते हैं; उनके आगे सबको सिर झुकाना चाहिए; सबको उनका अभिवादन करना चाहिए, आदि आदि अनेक प्रकार की बातें गढ़ी जाया करती थीं और पथ-भ्रष्ट करने के उद्योग हुआ करते थे।

मुल्ला साहब बहुत बिगड़कर कहते हैं कि बीरबल ने यह समझाया कि सूर्य ईश्वर की पूर्ण सत्ता का प्रकाशक है। हरियाली उगाना, अनाज लाना, फूल खिलाना, फल फलाना, संसार मे प्रकाश करना, सबको जीवन देना उसी पर निर्भर है; इसलिये वही सबसे अधिक पूज्य है। वह जिधर उदित होता हो, उधर ही मुँह करना चाहिए न कि जिधर वह अस्त होता हो, उधर। इसी प्रकार आग, पानी, पत्थर, पीपल और उसके साथ सब वृक्ष भी ईश्वर की सत्ता के प्रकाशक बन गए। यहाँ तक कि गौ और गोबर भी ईश्वर की सत्ता के द्योतक हो गए। इसी के साथ तिलक और यज्ञोपवीत की भी प्रतिष्ठा होने लगी। मजा यह कि बड़े बड़े मुसलमान विद्वान् और मुसाहिब भी इन बातों का समर्थन करने लगे और कहने लगे कि वास्तव में सूर्य सारे ससार को प्रकाशित करता है, सारे संसार को सब कुछ देता है और बादशाहों का तो मित्र और संरक्षक ही है। जितने प्रतापी

बादशाह हुए हैं, सब इसका प्रभुत्व स्वीकृत करते रहे हैं। इस प्रकार की प्रथाएँ हुमायूँ के समय में भी प्रचलित थीं। तुर्क लोग प्राचीन काल से नौ रोज के दिन ईद मनाते थे और थालों मे पकवान तथा मिठाइयाँ आदि भरकर लूटते लुटाते थे। प्रत्येक मुसलमान बादशाह ने भी इसे कहीं कम और कहीं अधिक ईद का दिन समझा है। और वास्तव में जिस दिन से अकबर सिंहासन पर बैठा था, उस दिन से वह नौ रोज को बहुत ही शुभ और सारे संसार के त्योहार का दिन समझकर बहुत कुछ उत्सव मनाता और जशन करता था। उसी के रंग के अनुसार सारा दरबार भी रँग जाता था। पर हाँ, अब वह भारतवर्ष मे था, इसलिये भारत की रीति-रस्में भी बरत लिया करता था।

अकबर ने ब्राह्मणों से सूर्य की सिद्धि का मंत्र सीखा था, जिसे वह सूर्योदय और आधी रात के समय जपा करता था। सझोला के राजा दीपचंद ने एक जलसे मे कहा कि हुजूर, यदि गौ ईश्वर की दृष्टि में पूज्य न होती, तो कुरान में सबसे पहले उसी का सूरा (मंत्र) क्यों होता? उसका मांस हराम कर दिया गया और आग्रहपूर्वक कह दिया गया कि जो कोई उसे मारेगा, वह मारा जायगा। इसका समर्थन करने के लिये बड़े बड़े हकीम अपने हिकमत के ग्रंथ लेकर उपस्थित हुए और कहने लगे कि इसके मांस से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं; वह रद्दी और गरिष्ठ होता है, इत्यादि इत्यादि।

मुल्ला साहब इन बातों को चाहे जहाँ तक बिगड़कर दिखलावे, पर वास्तविक बात यह है कि अकबर इस्लाम धर्म के सिद्धांतों से सर्वथा हीन नहीं था। वह अपने पूर्वजों के धर्म को भी बहुत कुछ मानता था। मीर अबू तुराब हाजियों के प्रधान होकर मक्के गए थे। जब सन् ९८७ हि० मे वे लौटकर आए, तब अपने साथ एक ऐसा भारी पत्थर लाए जो हाथी से भी उठ न सके। जब पास पहुँचे, तब बादशाह को लिख भेजा कि फिरोजशाह के समय मे एक बार कदम-शरीफ* आया था। अब हुजूर के शासनकाल मे सेवक यह पत्थर लाया है। अकबर ने समझ लिया था कि इस सीधे सादे सैयद ने यह भी एक दूकानदारी की है। पर इस समय ऐसा काम करना चाहिए जिसमें इस बेचारे की भी हँसी न हो; और मुझे जो लोग इस्लाम धर्म से च्युत बतलाते हैं, उनके भी दाँत टूट जायँ। इसलिये उसने आज्ञा दी कि दरबार भली भाँति सजाया जाय। उक्त सैयद के पास आज्ञापत्र पहुँचा कि शहर से चार कोस पर ठहर जाओ। अकबर सब शाहजादों और अमीरों को अपने साथ लेकर अगवानी के लिये गया। कुछ दूर पहले से ही सवारी पर से उतरकर पैदल हो लिया। बहुत आदर तथा नम्रतापूर्वक स्वय पत्थर को कंधा दिया और कुछ दूर तक चलकर कहा कि धर्मनिष्ठ अमीर इसी प्रकार इसे दरबार तक लावे और पत्थर मीर के ही घर पर रखा जाय।

* मुहम्मद साहब के पद-चिह्नों से अंकित पत्थर।

मुल्ला साहब कहते हैं कि सन् ९८७ हि० में तो आफत ही आ गई। यह वह समय था जब कि चारों ओर से निश्चितता हो गई थी। विचार यह हुआ कि लोग "लाइ-लह् इलू अल्लाह" (ईश्वर एक ही है) के साथ "अकबर खलीफतुल्लाह" (अकबर खलीफा या मुहम्मद का उत्तरा-धिकारी है) भी कहा करें। फिर भी लोगों के उपद्रव करने की आशंका थी, इसलिये कहा जाता था कि बाहर नहीं, महल मे कहा करो। सर्वसाधारण प्राय: "अल्लाह अकबर" के सिवा और कुछ कहते ही न थे। प्राय: लोग अभिवादन के समय सलाम अलैक के बदले "अल्लाह अकबर" और उसके उत्तर में "जल्ले जलाल हू" कहा करते थे। अब तक हजारों रुपए ऐसे मिलते हैं, जिनके दोनों ओर यही वाक्य पाए जाते हैं। यद्यपि सभी अमीर आज्ञाकारी और विश्वसनीय समझे जाते थे, तथापि विचार यह हुआ कि इनमें से पहले कोई एक आरंभ करे। इसलिये पहले कुतुबुद्दीनखाँ कोका को संकेत किया गया कि यह पुराना और अनुकरणमूलक धर्म छोड़ दो। उसने शुभ चिंतन के विचार से कुछ दु:ख प्रकट करते हुए कहा कि और और देशों के बादशाह, जैसे रूम के सुल्तान आदि, सुनेंगे तो क्या कहेंगे। सबका धर्म तो यही है चाहे अनुकरणमूलक हो और चाहे और कुछ हो। बादशाह ने बिगड़कर कहा कि तू अप्रत्यक्ष रूप से रूम के सुल्तान की ओर से लड़ता है और अपने लिये स्थान बनाता है, जिसमें यहाँ से जाने पर वहाँ

प्रतिष्ठा पावे। जा, वहीं चला जा। शहबाजखाँ कंबोह ने भी प्रश्नोत्तर में कुछ कड़ी बातें कही थीं। बीरबल अवसर देखकर कुछ बोले, पर उनको उसने ऐसी कड़ी धमकी दी कि उस समय की सब बातचीत ही बेमजे हो गई और सब अमीर आपस में काना-फूसी करने लगे। बादशाह ने शहबाजखाँ को विशेष रूप से तथा दूसरे लोगों को मुग्ध कर कहा कि क्या बकते हो, तुम्हारे मुँह पर गू में जूतियाँ भरकर लगवाऊँगा। मुल्ला शारी ने इस संबंध में कुछ कविता भी की थी।

इन्हीं दिनों में यह भी निश्चय हुआ कि जो व्यक्ति अकबर के चलाए हुए नए धर्म में, जिसका नाम "दीन इलाही अकबरशाही" था, सम्मिलित हो उसके लिये चार बातें आवश्यक हैं—धन की ओर से उदासीनता, जीवन की ओर से उदासीनता, प्रतिष्ठा की ओर से उदासीनता और धर्म की ओर से उदासीनता। जो इन चारों बातों से उदासीन हो, वह पूरा और नहीं तो तीन-चौथाई, आधा या चौथाई अनुयायी माना जाता था। धीरे धीरे सभी लोग "दीन इलाही अकबरशाही" में आ गए। इस नए धर्म के संबंध में सूचनाएँ और व्यवस्थाएँ देने तथा नियम आदि निर्धारित करने के लिये कई खलीफा भी नियुक्त हुए थे। उनमें से पहले खलीफा शेख अबुलफजल थे। जो व्यक्ति 'दीन इलाही' में आता था, वह इस आशय का एक इकरारनामा लिख देता था कि मैं अपनी इच्छा से और अपनी आत्मा की प्रेरणा से अपना वह कृत्रिम और अनुकरण-

मूलक इस्लाम धर्म छोड़ता हूँ, जो मैंने अपने पूर्वजों से सुना था और जिसका पालन करते हुए उन्हे देखा था; और अब मैं 'दीन इलाही अकबरशाही' मे आकर सम्मिलित हुआ हूँ, और धन, जीवन, प्रतिष्ठा और दीन की ओर से उदासीन रहना और उनका त्याग करना मंजूर करता हूँ। इस 'दीन इलाही' मे बड़े बड़े अमीर और देशों के शासक सम्मिलित होते थे। ठट्ठे का हाकिम मिरजा जानी भी इसमे सम्मिलित हुआ था। सब लोगों के इकरारनामे अबुलफजल को दे दिए जाते थे और वे सब लोगों के विश्वास के अनुसार उन पत्रों को क्रम से लगाकर रखते थे। यही शेख 'दीन इलाही' के प्रधान खलीफा थे।

अमीरों मे से जो लोग 'दीन इलाही अकबरशाही' में सम्मिलित हुए थे, इतिहासों आदि के आधार पर उनकी जो सूची तैयार की गई है, वह इस प्रकार है—

(१) अबुलफजल, खलीफा।
(२) फैजी, दरबार का प्रधान कवि।
(३) शेख मुबारक नागौरी।
(४) जाफरबेग आसफ खाँ, इतिहास-लेखक और कवि।
(५) कासिम काहली, कवि।
(६) अब्दुल समद, दरबार का चित्रकार और कवि।
(७) आजमखाँ कोका, मक्के से लौटने पर।
(८) मुल्ला शाहमुहम्मद शाहाबादी, इतिहास-लेखक।
(९) सूफी अहमद।

(१०) सदरजहान, सारे भारत के प्रधान मुफ्ती और
(११-१२) इनके दोनों पुत्र।
(१३) मीर शरीफ अमली।
(१४) सुल्तान ख्वाजा सदर।
(१५) मिरजा जानी, ठट्ठे का हाकिम।
(१६) नकी शोस्तरी, कवि और दो-सदी मंसबदार।
(१७) शेखजादा गोसाला बनारसी।
(१८) बीरबल।

इसी संबंध मे मुल्ला साहब कहते हैं कि एक दिन योंही सब लोग बैठे हुए थे। अकबर ने कहा कि आजकल के जमाने मे सबसे अधिक बुद्धिमान् कौन है? बादशाहों को छोड़-कर और लोगों के नाम बतलाओ। हकीम हमाम ने कहा कि मैं तो यह कहता हूँ कि सबसे अधिक बुद्धिमान् मैं हूँ। अबुल-फजल ने कहा कि सबसे अधिक बुद्धिमान् मेरे पिता हैं। इसी प्रकार सब लोगों ने अपनी अपनी बुद्धिमत्ता प्रकट की।

अकबर के सारे इतिहास में यह बात स्वर्णाक्षरों में लिखने के योग्य है कि इन सब बातों के होते हुए भी इस साल में उसने स्पष्ट आज्ञा दे दी कि हिंदुओं पर लगनेवाला जजिया नामक कर बिलकुल माफ कर दिया जाय। इस कर से कई करोड़ रुपए वार्षिक की आय होती थी।

—रामचंद्र वर्म्मा

(३) भाषा का इतिहास

इस मुल्क के सबसे पहले रहनेवाले कौन थे और उनकी बोली क्या थी, अब कोई नहीं कह सकता। क्या वह बोली तामिल और तिलग्गू की जड़ थी कि जो अब तक दक्खन में बोली जाती है, और संस्कृत से कुछ भी सरोकार नहीं रखती या उन बहुत सी बोलियों में से किसी की जड़ थी जो भूमिए भील गोंड चुवाड़ आदि विध्या के आसपास जंगल झाड़ियों के रहनेवाले बोलते हैं ?

जो हो, सस्कृत हर्गिज नहीं थी। संस्कृत इस मुल्क में आर्य लोगों के साथ यानी ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों के साथ, कि जिनकी वह बोली थी, उत्तर पच्छिम यानी हिमालय पार उत्तर कुरु देश से आई। साबित है कि यहाँ भूमिए इस मुल्क के हर हिस्से में जुदा जुदा किस्म की बोलियाँ बोलते थे। इससे यह मतलब नहीं कि किस कदर कदम बकदम हटते हुए दक्खन को चले गए खाह अगम्य जंगल पहाड़ो मे पनाहगीर हुए। इसमें शक नहीं कि उनकी जमाअत ने शूद्र के नाम से अपने विजयी गोरे दुश्मनों की यानी आर्य लोगों की सेवा कबूल की, और उनकी नई आबादियों में आबाद होकर गिनती में आए, गो निहायत खार और जलील और खिदमतगुजार थे। लेकिन ब्राह्मणों का पेशा पढ़ने पढ़ाने का था और इनकी बड़ाई और

जीविका संस्कृत विद्या से थी, इसलिये उन्होंने एकबारगी शूद्रों के लिये दर्वाजा बंद कर दिया और उन्हें उसके पढ़ने पढ़ाने की बिल्कुल मनाही कर दी, और सबब उस मनाही का यह ठहराया कि पाणिनि का व्याकरण वेदांग है, और शूद्रों को सिखलाने की तो कौन सी बात है, और नाम उसका देववाणी रक्खा। सिवा इसके शूद्रों को संस्कृत शब्दों का शुद्ध उच्चारण करना भी बहुत कठिन पड़ा होगा, और प्राकृत के नाम से वह उनकी नई नई जबानें बन गई होंगी। प्राकृत निकला है प्रकृति से। जब एक जबान से कोई दूसरी जबान निकलती है, असली जबान को उस दूसरी जबान की प्रकृति कहते हैं।

जो हो, यह तमाम प्राकृतें अर्थात् यहाँ के जिला जिला की बोलियाँ अर्थात् मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, शावरी, आभीरी, चांडाली, पैशाची आदि उच्च लोगों के नजदीक गँवारी और बहुत नीच रहीं, और राजदर्बार अर्थात् कचहरियों की जबान संस्कृत बनी रही। यहाँ तक कि मसीह के ५४३ बरस पहले शाक्यमुनि गौतमबुद्ध ने एक ऐसा भारी उलट पुलट पैदा किया जो आज तक दुनिया में सुना नहीं गया। उसने अपना बयान अवाम को समझाना चाहा और उसने उनकी बोली में उपदेश शुरू किया। प्राकृत औरत, बच्चे, पढ़े, अनपढ़े समझते थे। इस मगध देश की प्राकृत अर्थात् मागधी, जो बौद्धमत का मानों पालना थी, एकबारगी ऊँचे दर्जे को पहुँच गई, और वह जबान मजहबी और वही दर्बारी करार

पाई। और कई सौ कम दो हजार बरस गुजरे हैं, वररुचि ने उसका व्याकरण भी बना दिया। यहाँ तक कि बौद्धमत-वालों ने बाप को बेटा और बेटे को बाप कर दिया। प्राकृत को असल और संस्कृत को उससे निकला बता दिया। लिख दिया, "एक जबान जो तमाम जबानों की असल है, और सृष्टि के आरंभ मे मनुष्य और ब्राह्मण जिन्होंने कभी कुछ कहा सुना न था बल्कि सर्वशक्तिमान् बुद्ध लोग भी उसी में बोलते थे और उसका नाम मागधी है"।

जब श्रीशंकराचार्य ने आठवीं या नवीं सदी के करीब बौद्धों को यहाँ से निकाला तब संस्कृत को फिर जारी करने की कोशिश हुई लेकिन शंकरस्वामी के भी मकदूर से बाहर था कि प्राकृत को नाश करें और संस्कृत को नित के तमाम और आपस की बोलचाल के लिये जारी जबान बनावे। गो इसमे शक नहीं कि चंद रोज के लियं सस्कृत धार के राजा भोज और कन्नौज के राजा राठौर के दर्बारों में आबताब के साथ चमक गई थी लेकिन प्राकृत को कुछ दिन बाद ऐसे कड़े और जबर्दस्त दुश्मनों से काम पड़ा कि अब तक कभी नहीं आए थे। यह मुसलमान थे। यह फारसी बोलते थे और इन्हीं के साथ फारसी इस देश में आई।

इन लोगों ने अपनी फारसी के सामने प्राकृत का नाम हिंदवी रक्खा। इस जमाने तक प्राकृत मे धीरे धीरे बड़े उलट फेर हो गए थे। संक्षेप और उच्चारण की सुगमता के लिये

बहुतेरे शब्द बिलकुल बदल गए थे। नए नए शब्द शामिल हो गए थे। पुराने मुश्किल से पहचाने जाते थे। तमाम दुनिया की जबानों का यही दस्तूर है।

लेकिन यह नई फारसी, जिसने हमारी प्राकृत को भर दिया, खुद अरबी से भरी हुई आई। अरबी संस्कृत से कुछ सरोकार नहीं रखती। प्राकृत ने फारसी के साथ अरबी को भी अपने अंदर जगह दी। मुसलमानों का आईन कानून, जो उस वक्त हिंदुस्तान में जारी था, अरबी जबान में होने के कारण अरबी शब्द तमाम हिंदुस्तान में, क्या बड़े आदमी और क्या अवाम, सबकी नित की बोलचाल मे आ गए।

अब इस जबान को अर्थात् उस प्राकृत को जिसमें फारसी और अरबी मिली, हिंदी कहो चाहे हिंदुस्तानी, भाषा कहो चाहे ब्रजभाषा, रेखता कहो चाहे खरी बोली, उर्दू कहो चाहे उर्दूएमुअल्ला, उसके बीज तभी से बोए गए कि जब महमूद गजनवी ने चढ़ाई की और मुसलमानों की इस मुल्क पर तवज्जुह हुई, आठ सौ बरस से जियादा गुजरते हैं।

दिल्ली और आगरा दोनों उस वक्त गुमनाम थे। कन्नौज गोया हिंदुओं के सल्तनत की राजधानी गिना जाता था। संस्कृत विद्या वहाँ अपने औज पर थी। मथुरा का शहर भी बड़ी रौनक पर था। लेकिन निहायत अफसोस की बात है कि उस वक्त की भाषा मे लिखी हुई कोई पुस्तक अब नहीं मिली। सबसे पुरानी इस जबान की पुस्तक जो हम लोगों के

हाथ लगी है, मशहूर भाट चंद का "पृथ्वीराज रासो" है। यह कहना मुश्किल है कि चंद की जबान, याने जिस जबान में उसने 'पृथ्वीराज रासो' लिखा है, कन्नौज की जबान थी या मथुरा या काँगड़ की, या दिल्ली श्रौर अजमेर की, या उस जमाने मे इन मुकामों की बोलियों के दर्मियान कुछ ऐसा बड़ा फर्क न था। जो हो, कई सतरें लिखी जाती हैं। उनके देखने से मालूम हो जायगा कि हमारे पश्चिमोत्तर देश की जबान तब से अब किस कदर बदल गई श्रौर कैसी जल्द फारसी शब्द उसमे मिलने लगे थे।

"मिले सेन सुरितान दिसा अन्नेक दिव्य भर।
दिव्यपाणि पद्धरी सुकरि सावस्य (?)—पर॥
गहि को सुमाज्ज गज्जनि सुवर आतस चरित अनंत करि।
आवंत पंग सारध सयन मिल मन थाप्पिय थान लरि॥
तब कहै शाह सा. ब अहो तातारखान सुनि।
खुरासान रुस्तमा ज्मन मारूफ खान पुनि।"

अब इस मुल्क मे दो किस्म के आदमी हो गए। एक जिन्होंने इस मुल्क को फतह किया अर्थात् मुसलमान श्रौर दूसरे जो उनके तावे हुए अर्थात् हिंदू। दर्बार की जबान फारसी थी श्रौर दर्बार ही की जबान तमाम दुनिया में श्रौर तमाम जबान में उत्तम श्रौर माननीय समझी जाती है। गोया बिल्कुल सभ्यता श्रौर वजादारी की वह जड़ हो जाती है। हिंदू का सबसे बड़ा हौसिला यही था कि जहाँ तक बन पड़े,

इल्म और लियाकत में मुसलमानों से बराबरी करें।...बड़ी से बड़ी तारीफ उस वक्त हिंदू की यही हो सकती थी कि उनके शेर ईरानियों के से मालूम होते हैं। हिंदू लोग न केवल आपस के बीच फारसी में चिट्ठी-पत्री जारी रखते थे, वरन् अपने घर का हिसाब भी फारसी मे लिखते थे। सर हेनरी इलियट लिखते हैं कि "हिंदू मुसन्निफ की तसनीफ मे कोई बात ऐसी नहीं है जिससे उसकी कौम और उसका मजहब जाहिर हो सके। हाँ शायद किसी कदर इबारत का गैरफसीह और पुरतकल्लुफ होना अलबत्ता इस बात पर उँगली उठाता है कि गैर की पोशाक उसके बदन पर कैसी बुरी मालूम होती है यह हिंदुओं को काफिर लिखता है, और मुसलमानों को मोमिन। यह पीरों की ऐसी ताजीम करता है गोया उनका चेला ही बन गया है। जब कभी हिंदू मारे जाते हैं, वह लिखता है जहन्नुम में दाखिल हुए, और जब किसी मुसलमान का ऐसा हाल होता है तब लिखता है कि शहादत का शर्बत पीया। एक बूढ़ा हिंदू मुसन्निफ जो बखूबी जानता होगा कि जल्द ही चिता मे फुँककर और राख की ढेरी होकर गंगा में बहाया जायगा, अपने तई बर कनारे गोर लिखता है। इसमें शक नहीं कि इनमें से बहुत सी बातें वह ग्रंथकर्त्ता खुशामद की राह से जान-बूझकर अपने मुसलमान मालिकों के खुश करने को लिखते होंगे, तो भी हमको इस बात के लिखने के लिये कि प्राकृतों की नहरों में किस तरह फारसी शब्दों की सैलाबी आ गई बहुत काम की है।"

कबीर पंद्रहवीं सदी के अंत में सिकंदर लोदी के जमाने हुआ। उसकी तसनीफों से अब भी बहुत कुछ बच रहा है। यह उसी का है—

छोड़ बदबख्त तू कहर की नजर कूँ
खोल दिल बीच जहाँ बसत हक्का।
अजब दीदार है अजब महबूब है
करन कारन जहाँ सबद सच्चा॥
खड़े दरदबंद दरवेश दर्गाह में
खैर और मिहर मौजूद मक्का।
जिकर कर रब्ब का फिकर दरदफै कर
कहे कब्बीर इह सखुन पक्का॥

बाबा तुलसीदास ब्राह्मण थे, पंडित थे, गोसाईं थे, अकबर बादशाह के वक्त में थे। उनकी रामायन है। अपने किस्म की अद्वितीय है। गो जबान किसी कदर गँवारी है और संस्कृत शब्दों से भरी है, लेकिन कविताई में अपने किस्म की एक ही है। घोड़े की तारीफ में लिखते हैं—

जगमगति जीन जड़ाउ जोति सुमोति मानिक तेहि लगे।
किंकिन ललाम लगाम ललित बिलोकि सुर नर मुनि ठगे॥

इसी जमाने के करीब करीब सूरदास हुए, उन्होंने कृष्ण के जस गाए। इनके पद मशहूर हैं। यह उनका कहा है—

कीजै प्रभु अपने विरद की लाज।
हौंहु पतित कबहूँ नहि आयों नैकु तुम्हारे काज॥

माया सबल धाम धन बनिता, बाँध्यो हौं यहि साज।
देखत सुनत सबै जानत हौं तऊ न आयौ बाज॥
कहियत बहुत काह जब ताने स्रवनन सुनी अवाज।
दियो न जात पार उतराई चाहत चढ़न जहाज॥
लीजै पार उतारि सूर कों महाराज ब्रजराज।
नई न करत कहत प्रभु तुमसों सदा गरीब निवाज॥

अब इसकी काफी दलीलें पेश हो गईं कि, गो हिंदुओं ने देवनागरी हरफ और अपना खास उच्चारण और बहुत सा अपना व्याकरण बहाल और बर्करार रक्खा तो भी फारसी शब्दों को बहुत आजादी से काम में लाए।

मुसलमान घमंड के मारे अपने अधीन रअय्यत की जबान में बातचीत करना बेशक शर्मिंदगी और बेइज्जती का कारण समझते होंगे, लेकिन उनके महल हिंदुओं की लड़कियों से भरे थे। और उन्हें रात-दिन काम ऐसे हिंदुओं से पड़ा करता था जो फारसी से कम वाकिफ थे। बस यह घमंड धीरे धीरे कम हो गया। और अगर बिल्कुल खतकिताबत नहीं तो बोलचाल तो हिंदुओं के साथ उनकी जबान में जारी हो गई। शैर भी उनकी जबान में एक अनोखापन दिलाने के लिये बनाने लगे। खाजा अबुलहसन खुसरो, जिसको अमीर खुसरो भी कहते हैं, तेरहवीं सदी मे इस किस्म की गजलें कहने लगा था—"जे हाले मिस्की मकुन तगाफुल दुराय नैना बनाय बतियाँ"। गजल मशहूर है, लेकिन सभी खुसरो की तरह 'तूतीये हिंद'

न थे। हिंदी में हँसी के लायक गलतियाँ करते थे। उनकी हिंदी जबान से तो हम नए आए विलायत के ताजे डाल के टूटे साहब लोगों की हिंदी बेहतर समझते हैं। मिसाल के लिये कुछ दक्खनी सादी का कलाम सुनिए। यह चौदहवीं सदी मे हुआ था—

"हमना तुम्हन को दिल दिया, तुम दिल लिया और दुख दिया।
हम यह किया तुम वह किया, ऐसी भली यह रीत है ॥"

मलिक मुहम्मद जाइसवाले की मसनवी पदमावत ऐसे ऐबों से खाली है, और शीरीनी उसके कलाम से टपकी पड़ती है। मसनवी का दीबाचा—

"सय्यद अशरफ पीर पियारा, जेहि मोंहि पंथ दीन्ह उजियारा।
लेसा हिये प्रेमकर दिया, उठी जोति भा निर्मल हिया ॥
मारग हुतो अँधेर असूझा, भा उजेर सब जाना बूझा।
खार समुद्र पाय मोर मेला, बोहित धर्म कीन्ह कै चेला ॥
जाके ऐस होहि कनहारा, तुरत बेग सों पावै पारा।
दस्तगीर गाढ़े के साथी, जहँ अवगाह देहि तहँ हाथी ॥"

यह अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ का जमाना था कि जब किसी कदर मुल्क में अमन-अमान रहने लगा, और लिखने पढ़ने की तरफ लोगों का दिल मुतवज्जिह हुआ। तर्जुमा के लिये संस्कृत पुस्तकें तलाश होने लगीं और हिंदुओं के साथ राह-रस्म बढ़ जाने से मुसलमान शाइर भी कि जिनमे क्या कोई शाही खान्दान से न होंगे बिल्कुल यहाँ की जबान में

शैर कहने लगे। 'वली' इस किस्म का शाइर अव्वल कहा जा सकता है। यह उसी का है—

"ताकत नहीं किसी को कि एक हर्फ सुन सके।
अहवाल गर कहूँ मैं दिले बेकरार का॥
मसनदे गुल मंजिले शबनम् हुई।
देख रुतबा दीदये बेदार का॥"

लेकिन मजमून इन शायरों के पास सिवाय इश्क के और कुछ न था। कभी वह किसी का सरापा और नाज और अंदाज बयान करते हैं कभी वह फिराक के दर्द में मुबतला हैं। इसके सिवाय और उनको कुछ सूझता नहीं। ऐसे मजमूनों के लिये निहायत नर्म और शीरीं शब्दों के सिवा दूसरे काम मे आ ही नहीं सकते। अगर फारसी की वर्णमाला पर निगाह की जावे तो तुर्त साबित हो जावेगा कि इससे बढ़कर दुनिया में कोई जबान मुलायम और मीठी नही है। पर रोज बरोज हिंदी शब्द इन शाइरों के नजदीक सख्त (श्रुतिकटु) ठहरते गए, और इनकी जगह फारसी और अरबी शब्द भरती होने लगे, मसलन् पहिले "पंखड़ी" काम में आता था, लेकिन बाद जो शाइर हुए उनके कानों में इस शब्द ने घाव किया। तुर्त 'बर्गेगुल' से बदल दिया—और इस तरह पर कदम बकदम खिचते हम लोग मिर्जा नौशाह असदुल्लाह खाँ 'गालिब' और मिर्जा रजबअली बेग 'सुरूर' की उर्दू-ए-मुअल्ला को पहुँचे।

दिल्ली राजधानी थी और राजा की वोली वोलियों की राजा समझी जाती है। दिल्ली के किले की जवान सबके लिये सनद हो गई।

लेकिन यह केवल किले ही की जवान थी। जिले में जाट गूजरों की जवान से बढ़कर शायद किसी दूसरी जवान मे दिहकानियत न मिले।

इस उन्नीसवीं सदी के शुरू मे डाक्टर गिलक्रस्ट साहब ने मीर अमन दिहलवी, बागबहार के मुसन्निफ, और लल्लूलालजी कवि आगरेवाले प्रेमसागर के मुसन्निफ को हुक्म दिया कि नसर (गद्य) की कुछ कितावें इस मुल्क की जवान में ऐसी बनावे कि जिनको पढ़कर साहब लोग इस मुल्कवालों की वोली समझ सकें, और इस मुल्कवाले जो कुछ कि साहब लोग उनसे बोलें उसको समझ लेवे। दोनों ग्रंथकर्त्ता वेशक हैरान हुए होंगे, क्योंकि यह उनके लिये बिल्कुल नई बात थी। दोनों ने किताव बनाई, मगर दोनों को एक एक नई जवान वनानी पड़ी। लल्लूजी ने तो अपने प्रेमसागर में से बिल्कुल फारसी शब्द निकाल डाले, यहाँ तक कि अपने मुरब्बी डाक्टर गिलक्रस्ट के लिये भी साहब का शब्द नही लिखा। अफसोस लल्लूजी यह भूल गए कि खुद उनका नाम आधा अर्थात् 'लाल' फारसी है (?)

लेकिन अब वादशाह और बादशाही दोनों दिल्ली और लखनऊ की हमेशा के लिये दर्याबर्द हुई। किला और महल

सब हिंदुस्तान के नकशे में सुर्ख रँगे गए। शाइर झूठे और खुशामदी, जो अब तक हमारी जबान के लिये सनद समझे जाते थे, हर तरफ तितर बितर हो गए। और लोहे की सड़क और धुएँ की गाड़ियाँ अब नित हर तरह की प्रजा के लोगों को भारतवर्ष के हर एक हिस्से और कोनों से ले जाकर आपस में मिलाते हैं। वह जरूर एक दूसरे से बातचीत करेंगे और एक दूसरे की सुनेंगे। तो अब क्या करना चाहिए? क्या उर्दू-ए-मुअल्ला सीखने के लिये दिल्ली के किले में जावे? दिल्ली खुद अब दूसरे दर्जे का शहर गिना जाता है। किले में वह दीवान खास, जिसमे अब तक लिखा हुआ है "अगर फिर्दौस बररूए जमीनस्त। हमीनस्तो हमीनस्तो हमीनस्त", अजाइब-खाना बनाई गई। अगर वहाँ सनद के लिये किसी शाइर को तलाश करें तो पहरेवाले गोरे और संतरी "हुक्मदर" (Who comes there ?) पुकारते हैं। पस हम लोगों को अब सनद के लिये किसी दूसरी तरफ देखना चाहिए।

अटकल से कम जियादा कोई पचास बरस गुजरे होंगे, सर्कार ने अपनी कचहरियों से फारसी जबान उठा दी, और हुक्म दिया कि इस मुल्क की बोली में काम किया जावे। जबान फारसी तो उठ गई, मगर हरफ फारसी ज्यों के त्यों बने रहे। नतीजा यह निकला कि एक नई जबान हुई अर्थात् कचहरी की जबान।

बलवे के पहले सरिश्ते तालीम इस देश में कायम हुआ और बहुतायत से यहाँ की जबान में किताबें छापी गईं,

लेकिन इसमें भी किसी कदर वही गलती हुई जो डाक्टर गिलक्रस्ट के वक्त मे अफसोस का कारण हुई थी अर्थात् पंडित लोग सोचते हैं कि जितने असली संस्कृत शब्द (चाहे वह समझ में आवे या नहीं) लिखे जावें उतनी उनकी नामवरी का सबब है, और इसी तरह मौलवी लोग फारसी और अरबी शब्दों के लिये सोचते हैं। गरज पुल बनाने के बदले दोनों खंदक को गहरा और चौड़ा करते चले जाते हैं। उन लोगों ने अपने नजदीक एक का नाम हिंदी रखा है और दूसरे का नाम उर्दू।

शुद्ध हिंदी के तरफदार (और उनमे बड़े बड़े जबरदस्त आदमी हैं) हर्गिज खुश न होंगे, जब तक कि हम लोगों की जबान से सारे फारसी शब्द निकाल बाहर न किए जावें। वह लोग फारसी के आने से पहले जो प्राकृत शब्द जारी थे उन पर भी संतोष न करके वेदों का जमाना लाना चाहते हैं। वह अपने शब्दों को बिल्कुल नए सिरे से पाणिनि की टकसाल मे ढलवाना चाहते हैं। वह खुद नहीं जानते कि इस अपनी खयाली जबान का क्या नाम रखें। भुलावे के लिये वह कभी कभी उसको ब्रजभाषा बतला देते हैं। मगर ब्रजभाषा और जबान के शब्दों को खारिज नहीं करती है। सुनिए, भिखारीदास अपने "काव्यनिर्णय" मे क्या कहता है—

"ब्रजभाषा भाषा रुचिर कहै सुमति सब कोय।
मिलै संस्कृत पारस्यो पै अति सुगम जो होय॥"

और भी एक कवि ने कहा है—

"अंतरवेदी नागरी गौड़ी पारस देस।
अरु अरबी जामे मिलै मिश्रित भाषा बेस॥"

यह जबान (व्रजभाषा) अब थोड़ी दूर में अर्थात् केवल मथुरा के जिले में और उसके आसपास बोली जाती है। राजा जयसिंह सवाई जयपुरवाले ने बड़े बड़े भारी इनआम देकर व्रजभाषा की कविताई को रौनक दी। उसने बिहारी के दोहरों के लिये एक एक अशरफी दे डाली, और सच तो यों है कि बिहारी ही ने व्रजभाषा को अमर किया। अक्सर छंदों मे, जो हिंदुओं को पसंद हैं, व्रजभाषा के कारन सहज में कविता बन जाती है। इसी लिये हिंदुस्तान के और भी हिस्सों में कवि लोग इस जबान को काम में लाते हैं। यह दोहरा बिहारी का है—

"लिखन बैठि जाकी सबिहि गहि गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर॥"

ऐसी शुद्ध हिंदी चाहनेवाले को हम इस बात पर यकीन दिला सकते हैं कि जब तक कचहरी में फारसी हरफ जारी हैं, इस देश में संस्कृत शब्दों के जारी करने की कोशिश बेफायदा होगी।

तो हम लोगों को क्या करना चाहिए, किस तरफ फिरना चाहिए जिसमें हमको सीधी राह मिले। हम लोगों की जबान का व्याकरण किसी कदर काइम हो गया है। जो बाकी है जिस कदर जल्द काइम हो जावे बिहतर। इस जबान का दर्वाजा हमेशा खुला रहा है और अब भी खुला रहेगा; उसमें

शब्द बेशक आए और बराबर चले आते हैं, क्या भूमियों की बोली, क्या संस्कृत, क्या यूनानी (यहाँ तक कि यूनानी लफ्ज 'दीनार' पुरानी पुरानी संस्कृत पोथियों में भी पाया जाता है), क्या रूसी, क्या फारसी, क्या अरबी, क्या तुर्की, क्या अँगरेजी, क्या किसी मुल्क के शब्द जो कभी इस दुनिया के पर्दे पर बसे हैं या बसते हैं सबके वास्ते इसका दर्वाजा खुला रहा है और अब भी खुला रहेगा; अब इसे बंद करने की कोशिश करना सिवाय इसके कि किस कदर मूजिब हमारे हान और नुकसान का है सोचना चाहिए कि कैसा असंभव है। रोक टोक बेशक मुनासिब है और यही हो सकती है। वह कौन मनुष्य है कि अपने ताल मे, जिससे तमाम गाँव सिचते हैं, पानी आने की नालियाँ बंद करे। गंगा की धारा का बहना तो आप बंद नहीं कर सकते लेकिन यह अवश्य कर सकते हैं कि बाँध और पुश्ते बनाकर उन्हीं के दर्मियान उसको रखें। अगर बढ़ आवे, समय समय पर उन बाँधों को हटा के और उनकी मरम्मत कराके जियादा फैलाव देते जावे।

हम लोगों को जहाँ तक बन पड़े, चुनने मे उन शब्दों को लेना चाहिए कि जो आमफहम व खास पसंद हैं—अर्थात् जिनको जियादा आदमी समझ सकते हैं और जो यहाँ के पढ़े-लिखे आलिम फाजिल पंडित विद्वान् की बोलचाल मे छोड़े नहीं गए हैं और जहाँ तक बन पड़े, हम लोगों को हर्गिज गैर मुल्क के शब्द काम मे न लाने चाहिएँ और न संस्कृत की

टकसाल कायम करके नए नए ऊपरी शब्दों के सिक्के जारी करने चाहिएँ, जब तक कि हम लोगों को उसके जारी करने की जरूरत न साबित हो जाय, अर्थात् यह कि उस अर्थ का कोई शब्द हमारी जबान में नहीं है, या जो है अच्छा नहीं है, या कविताई की जरूरत या इल्मी जरूरत या कोई और खास जरूरत न साबित हो जाय। मैंने अक्सर बड़े बड़े मशहूर मुसन्निफ और शाइरो से पूछा कि साहिब आप कोई फाइदा बतला सकते हैं कि जिससे हम एक शब्द को छोड़कर दूसरे को इख्तियार करे। सबने एक जबान यही जवाब दिया कि "जो कान को अच्छा लगे"। अब मुश्किल यह है कि कान सब लोगों का एक ही नहीं है। एक के कानों को एक लफ्ज अच्छा लगता है और दूसरे के कानों को दूसरा। जो हो, हम लोगों को एक हिंदू जान्सन दर्कार है कि जो काम अँगरेजी जान्सन ने अँगरेजी जबान के लिये किया है, हमारी जबान के वास्ते करे अर्थात् जिसकी खोज और तलाश से हमारी जबान की यकीनी हदें कायम हो जावे और उनके अंदर काफी फैलाव रहे कि ज्यों ज्यों तरक्की होती जाय गुंजाइश मिलती जाय। इसमें अरबी, फारसी, संस्कृत (और अब कहना चाहिए अँगरेजी) के भी शब्द कंधे से कंधा भिड़ाकर चमक दमक रौनक पावे।

—राजा शिवप्रसाद

(४) समाज और कर्त्तव्य-पालन

यदि संसार में एक ही मनुष्य होता तो शरीर-रक्षा के अतिरिक्त उसका कुछ भी कर्त्तव्य न था। शायद शरीर-रक्षा भी कर्त्तव्य की कोटि से निकल जाती। जब जीवन का कुछ मूल्य ही न रहा, तब जीवन धारण करना किस प्रकार कर्त्तव्य कहा जा सकता है? कट्टर से कट्टर स्वार्थवादी भी समाज की स्थिति चाहते है। माना, कि हम अकेले रहकर सारे दृश्य-संसार के राजा बन जावे (Monarch of all I survey) किंतु जब तक हमारा कोई राजत्व स्वीकार करने को न हो, तब तक हम राजा ही कैसे? जब हम दूसरों को किसी वस्तु के भोग करने से न रोक सकें, तब हमारा अधिकार ही क्या अर्थ रखता है? उदार-चित्त मनुष्य भी निर्जन स्थान में कृपण-वत् धन को एकत्र किए बैठा रहेगा। हमारा ऐक्योन्मुख आदर्श भी समाज की अपेक्षा रखता है। दो का ही एकी-करण हो सकता है। भेद में ही अभेद देखा जाता है। अकेला मनुष्य तो एक है ही। उसके लिये एकता की ओर जाना कर्त्तव्य न रहेगा। 'सर्वभूतहिते रताः' होने के लिये सर्वभूत-स्थिति आवश्यक है। हमारे आदर्श की पूर्त्ति समाज में ही रहकर हो सकती है। समष्टि का हितसाधन कर व्यष्टि में

मनुष्य की समाज पर निर्भरता

समष्टि का भाव उत्पन्न करना समष्टि से बाहर होकर नहीं हो सकता। हमारी पूर्ण आत्मप्रतीति, अपनी पूर्ण आत्मा के संबंध में, जिसका व्यंजन सारे संसार मे हो रहा है, समाज में रहकर हो सकती है। समाज से पृथक् रहकर हम अपने आदर्श की किस प्रकार पूर्त्ति कर सकते हैं ? समाज में हमको जो स्थान मिला है, उसके उचित कर्त्तव्यों का पालन करने से हम अपने आदर्श की पूर्ति कर सकते हैं।

समाज मे प्रत्येक मनुष्य अपनी विशेष स्थिति रखता है। जिस प्रकार किसी मशीन मे हर एक पुर्जा मशीन के चलने मे योग देता है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को स्वस्थानोचित क्रिया करके संसार के निर्विघ्न संचालन मे योग देना आवश्यक है। जैसे एक पुर्जे के खराब होने से सारी मशीन खराब होती है, वैसे ही एक व्यक्ति के धर्मच्युत होने से सारा समाज भ्रष्ट हो जाता है। धर्मच्युत होने से यदि केवल व्यक्ति ही की हानि होती, तो शायद धर्म का पालन न करना इतना दोष-पूर्ण न होता। किंतु जब एक मछली सारे तालाब को गंदा कर देती है, तब व्यक्ति का धर्म-परायण रहना परमावश्यक हो जाता है और व्यक्ति का उत्तरदायित्व भी बढ़ जाता है। इसी लिये श्रीमद्भगवद्गीता मे श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा है कि, 'स्वधर्मे निधनं श्रेय. परधर्मो भयावहः।' यदि अर्जुन उस समय क्षत्रिय-धर्म को छोड़कर संन्यास ग्रहण कर लेता तो वह समाज में

समाज मे व्यक्ति की स्थिति और उत्तरदायित्व

अधर्म फैलानेवाला बन जाता। अर्जुन को समझाते हुए भगवान् ने कहा है—

* स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकंपितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते॥

× × × ×

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्त्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥

वर्णाश्रम-धर्म और कर्त्तव्य का सापेक्षत्व

हमारे देश में वर्णाश्रम-धर्म द्वारा प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य पहले से ही निश्चित कर दिया गया है। यह बात कहाँ तक निर्विवाद है, इसके लिये हम कुछ न कहकर इतना अवश्य कहेंगे कि वर्णाश्रम-धर्म कर्त्तव्यशास्त्र की बहुत सी आवश्यकताओं की पूर्त्ति करता है। प्रत्येक वर्ण और आश्रम के भिन्न भिन्न धर्म होने के कारण सब मनुष्यों का एक सा कर्त्तव्य नहीं रहता। इसका यह अर्थ नहीं कि कर्त्तव्य का आदर्श बदल जाता है, किंतु समाज में आदर्श की पूर्त्ति के भिन्न भिन्न साधन होना आवश्यक है। समाज की अनेक

---

* स्वधर्म को देखकर तुमको थर्राने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि क्षत्रिय के लिए धार्मिक युद्ध से श्रेष्ठतर क्या हो सकता है।

× × × ×

यदि तुम धार्मिक युद्ध से मुँह मोड़ोगे तो धर्म और सुयश से हाथ धोकर पाप के भागी होगे।

आवश्यकताओं की पूर्त्ति के अर्थ भिन्न भिन्न प्रकार और रुचि के मनुष्य चाहिएँ। इस कारण उनके कर्त्तव्यों में अवश्य भेद चाहिए। सबका एक सा कर्त्तव्य नहीं हो सकता। जो ब्राह्मण के लिये कर्त्तव्य है, वह क्षत्रिय के लिए अकर्त्तव्य है। सब एक लाठी से नहीं हाँके जा सकते। समाज में यदि सभी लोग मनन-शील बन जायँ तो उसका चलना कठिन हो जाय। वर्णविभाग करके हिंदू-धर्म ने कर्त्तव्य के सापेक्षत्व (Relativity of Ethics) को भली भाँति दिखलाया है। आश्रमों के विभाग कर देने से लोगों के कर्त्तव्य में बड़ी सुगमता पड़ गई है। विद्योपार्जन के साथ ही साथ धर्मोपार्जन नहीं हो सकता और धर्मोपार्जन के साथ मौन-व्रत धारण करके वन में बैठना नहीं हो सकता। वर्णाश्रम-धर्म के यथोचित परिपालन से समाज की अच्छी उन्नति हो सकती है। लोक-संग्रह का भी अर्थ स्थानोचित कर्त्तव्यों का पालन तथा समाज के धर्म मे स्थिति रखना है। समाज मे साम्य स्थापित करने के अर्थ किसी काम को कर्त्तव्य-दृष्टि से करना सच्चा निष्काम कर्म है और इसी मे सच्ची आत्म-प्रतीति भी होती है, क्योंकि समाज आत्मा का ही विकास है। अपना स्वार्थ छोड़ सामाजिक हित के अर्थ कर्म करना 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' का ही अर्थ रखता है, क्योंकि मनुष्यसमाज ईश्वर की सत्ता का श्रेष्ठ व्यंजक है।

आत्मा की सत्ता में विश्वास रखे विना समाज की स्थिति चाहना वृथा है।

समाज में साम्य किसलिये स्थापित करना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर देना उन लोगों के लिये, जो समाज में अपनी आत्मा का प्रकाश देखते हैं, कुछ कठिन नहीं। किंतु जो लोग आत्मसत्ता में विश्वास नहीं करते, उनके लिये सामाजिक स्थिति वा साम्य एक प्रकार का पाखंड ही है। समाज की स्थिति की चेष्टा किसलिये की जाय ? प्रकृतिवादियों की ओर से यह उत्तर मिलेगा, कि समाज की ही स्थिति में व्यक्ति का पूर्ण लाभ है। ठीक है, मनुष्य की चेतना को मस्तिष्क के परमाणुओं की क्रियाओं का परिणाम माननेवाले लोगों के मत में व्यक्ति की स्थिति का भी कोई लाभ नहीं दिखाई पड़ता। मनुष्य इस संसार की आकस्मिक क्रियाओं का फल है। इस प्रकृति के विशेष संघात (जिसे कि मनुष्य कहते हैं) के जीवित रहने से क्या लाभ ? यदि यह कहा जाय कि इस विशेष संघात का मूल्य बहुत बढ़ गया है तो ठीक है। किंतु वह मूल्य किसके लिये है और उसका जाननेवाला कौन है, इसका उत्तर नहीं। हम पहले बता चुके हैं, कि आस्तिकता के दृढ़ आधार पर ही कर्त्तव्य-शास्त्र का भव्य भवन बनाया जा सकता है। जब तक हम आत्मभाव (Personality) के विशेष मूल्य को न मानेंगे, तब तक हम संसार में मूल्यों के समझनेवाले को मानकर विज्ञान की संकुचित दृष्टि को विस्तृत न कर सकेंगे। जब तक हम सारे समाज को एक ही ज्ञान-स्वरूप सत्ता (आत्मा) का विकास न समझेंगे, तब तक 'सर्वभूतहिते रताः', 'समाज में

साम्य स्थापित करना', 'समाज की स्थिति बनाए रखना', 'जीवन की मात्रा को बढ़ाना' ये सब वाक्य निरर्थक ही रहेंगे।

सामाजिक विकास और उसकी वर्तमान स्थिति भी समाज के आध्यात्मिक आधार होने के साक्षी हैं। समाज में इतनी

हमारे आदर्श और सामाजिक संस्थाएँ

खराबी होने पर भी, अपने कर्त्तव्य-पालन की स्वतंत्रता है। मानसिक आदर्श के अनुकूल ही हमारा सामाजिक संस्थान भी बनता जा रहा है और हमारी सामाजिक संस्थाओं के अनुसार हमारे कर्त्तव्य-संबंधी विचार भी दृढ़ होते जाते हैं। दोनों ही एक दूसरे के आश्रय हैं। हमारे देश के अविभक्त कुटुंब, वर्णव्यवस्था, आश्रम-धर्म, पाठशालाएँ, उत्सव, रीति-व्यवहार आदि सभी उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित एकात्मवाद की अनुकूलता दिखा रहे हैं। हमारे यहाँ के प्रतिभाशाली तत्त्ववेत्ताओं ने स्वतंत्र लेखक होने का गौरव अस्वीकार कर अपने को टीकाकारों अथवा भाष्यकारों की नीची कोटि मे रखकर ही अपने जीवन को सफल समझा है। गृहस्थाश्रम के धर्म ऐसे रखे गए हैं, जिनमें ऐक्यभाव स्वतः ही उत्पन्न होता रहे। यह आश्रम बड़ा भारी कर्त्तव्यस्थल है। इसी लिये इसकी महिमा भी बहुत है। मनु महाराज ने कहा है—

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥ ३। ७७

यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ ३ । ७८

ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा ।
आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानतः* ॥ ३ । ८०

और स्थानों में भी गृहस्थाश्रम की भूरि भूरि प्रशंसा की गई है—

न्यायार्जितधनस्तत्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः ।
शास्त्रवित्सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते† ॥

सानंदं सदनं सुताश्च सुधियः कांता न दुर्भाषिणी,
सन्मित्रं सुधनं स्वयोषिति रतिश्चाज्ञापराः सेवकाः ।
आतिथ्य शिवपूजनं प्रतिदिनं मिष्टान्नपानं गृहे,
साधोः संगमुपासते हि सततं धन्यो गृहस्थाश्रमः‡ ॥

---

* अर्थ—जिस प्रकार सब जीव-जंतु वायु का आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करते है, उसी प्रकार इतर सब आश्रम गृहस्थाश्रम के ही सहारे बसते हैं। अन्य तीन आश्रमवाले लोग गृहस्थ लोगों से ही अन्न और ज्ञान प्राप्त करते हैं, इसलिये गृहस्थ आश्रम और आश्रमों से बड़ा है। ऋषि, पितर, देव, जीवधारी और अतिथि सभी गृहस्थाश्रम का सहारा लेते है। इस गृहस्थाश्रमवाले को इनके प्रति अपना धर्म जानकर आचरण करना चाहिए।

† न्यायपूर्वक धन कमानेवाला, आत्मज्ञान मे निष्ठा रखनेवाला, अतिथिसेवा करनेवाला, शास्त्र को जाननेवाला और निरंतर सत्य बोलनेवाला गृहस्थ भी मुक्त हो जाता है।

‡ उस गृहस्थाश्रम को धन्य ह, जहाँ आनंददायक गृह है, जहाँ बुद्धिमान् पुत्र है, जहाँ स्त्री कटुभाषिणी नहीं है, जहाँ अच्छे मित्र

यदि गृहस्थाश्रम मे धन का उपार्जन और दान कर्त्तव्य माना गया है, तो गृहस्थों का दान स्वीकार करने को और आश्रम भी बना दिए गए हैं। यदि संन्यासियों को धर्मोपदेश देने का भार दिया गया है, तो उनके उपदेश से लाभ उठाने के लिये लोग वर्तमान हैं। यदि संसार की स्थिति बनाए रखना और प्रजोत्पादन करके ऋषि-ऋण चुकाना धर्म माना गया है, तो उसकी पूर्त्ति के लिये विवाह की संस्था वर्तमान है। यदि देना धर्म है तो दान के लेनेवाले भी विद्यमान हैं। यदि समाज का संगठन श्रेय माना गया है, तो उसके लिये राज्य और साम्राज्य वर्तमान हैं। ये सब बातें यह बतलाती हैं कि हमारी सामाजिक संस्थाएँ हमारे आदर्शों के अनुकूल ही बनी हैं और इनके द्वारा हमारे आदर्शों की भली भाँति पूर्ति होना संभव है। व्यक्तियों द्वारा यथोचित लाभ न उठाए जाने के कारण बहुत सी संस्थाएँ बिगड़ भी जाती हैं। हम यह मानते हैं कि किसी देश की संस्थाओं का प्रभाव सब मनुष्यो पर एक सा नहीं पड़ता, क्योंकि देखा गया है कि जहाँ पर बहुत से विवाह करना मना नहीं है, वहाँ पर भी बहुत से लोग एक-पत्नीव्रत को दृढ़तः पाल रहे हैं। और जहाँ पर कि समाज में एक स्त्री

हैं, खूब धन है, जहाँ अपनी स्त्री के प्रति प्रेम है, जहाँ नौकर आज्ञाकारी है, जहाँ अतिथि-सत्कार होता है, जहाँ ईश्वर का पूजन नित्य होता है, मिठाई आदि भोजन रखे रहते है, और जहाँ निरंतर ही सज्जनों का समागम होता रहता है।

से अधिक रखने की आज्ञा नहीं, वहाँ पर भी बहुत से लोग इस रिवाज से यथोचित लाभ नहीं उठाते। तथापि इसमें कुछ संदेह नहीं, कि सामाजिक संस्थाएँ हमें कर्त्तव्य-परायण बनाने में बड़ी सहायता देती हैं और हमारे आदर्शों के लिये भौतिक ढाँचे की भाँति काम करती हैं।

सामाजिक संस्थाएँ और धार्मिक उन्नति

जिस प्रकार किसी कार्य को करते करते व्यक्ति का स्वभाव बन जाता है, उसी प्रकार सामाजिक संस्थाएँ समाज का स्वभाव हैं; और जिस तरह मनुष्य स्वभाव से जाना जाता है, वैसे ही समाज अपनी संस्थाओं द्वारा जाना जाता है। यूनान-देशीय आदर्श वहाँ की संस्थाओ मे वर्तमान थे। हमारे देश के वर्णाश्रम-धर्म इस बात को क्या ही विद्वत्ता से प्रमाणित कर रहे हैं कि सामाजिक संस्थाएँ मानव-जीवन को कहाँ तक बुरा-भला बना सकती हैं। कभी ऐसा भी देखा गया है कि सामाजिक संस्थाएँ समाज के आदर्श के अनुकूल नहीं रहतीं। तभी धर्म का ह्रास होने लगता है, धर्मोद्धार की आवश्यकता पड़ने लगती है, आवश्यकता के अनुकूल उनका आविर्भाव भी होने लगता है। श्रीमद्भगवद्गीता मे भी कहा है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत !
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

समाज के आदर्श को स्पष्ट करना और उससे संस्थाओं की संगति करना ही धर्मोद्धारक का मुख्य कर्त्तव्य होता है।

यह कार्य धर्मोद्धारकों के ही बाँटे मे नहीं पड़ा, वरन् प्रत्येक छोटे से छोटा मनुष्य भी पूरा धर्मोद्धारक है। इसलिए उसका कर्त्तव्य है कि समाज के आदर्शों की, उसके धर्मों की और संस्थाओं की एकता करके, अपने आदर्श को समाज के आदर्श में मिलाकर और अन्यान्य आदर्शों तथा संस्थाओं के अनुकूल अपने कर्मों को बनाकर, समाज में अपनी पूर्ण आत्म-प्रतीति करे।

समाज के व्रत का विस्तार

इस प्रकरण की समाप्ति के पूर्व समाज की व्याप्ति पर विचार कर लेना आवश्यक है। यदि समाज का संकुचित अर्थ माना जाय, तो उसकी व्याप्ति किसी विशेष संप्रदाय के लोगों से बाहर नहीं जाती, किंतु उसके विस्तार का अंत नहीं हो सकता। घर से लेकर मानवजाति तक समाज का घेरा है। क्या हम इस घेरे को और नहीं बढ़ा सकते? क्या पशु-पक्षी और कीट-पतंगों को भी हम अपने समाज मे सम्मिलित कर सकते हैं? इसके उत्तर मे कहा जायगा कि जिन जीवों का इतना विकास हुआ है कि वे हमारी गोष्ठी में सम्मिलित किए जायँ, वे उसमें सम्मिलित किए गए हैं। मनुष्यों और जानवरों का क्या संग? समाज के व्यक्तियो में एक दूसरे को सहायता देने का पारस्परिक भाव रहता है। मनुष्यों और पशुओं में पारस्परिक संबंध नहीं हो सकता, इसलिये उन्हें मनुष्य-समाज में स्थान देना असंभव है। इस

विषय में एक और भी बाधा उपस्थित हो सकती है, कि समाज मे व्यक्तियों का संबंध होता है और बहुत से जानवरों में व्यक्तित्व स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ता। इन तीनों बाधाओं पर थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक है। विकास की श्रेणी में पशु-पक्षी अवश्य नीचा स्थान पाते हैं, किंतु क्या यह बात उनको हमारी दया, अनुकंपा और सहायता से वंचित रखने के लिये ठीक है? यदि विचारपूर्वक देखा जाय, तो मनुष्य-समाज में भी विकास की कई श्रेणियाँ हैं। किंतु आजकल की सभ्यता में सबका जीवन-मूल्य बराबर समझा जाता है। सभ्य मनुष्य के मारने पर भी फाँसी होती है और असभ्य जंगली मनुष्य, पागल वा बालक के मारने पर भी वही दंड दिया जाता है। क्या यह जीवन-सम्मान (Respect for life) मनुष्य-समाज मे ही संकुचित रखना चाहिए? क्या अपने विचार में जीवन की शृंखला पीछे नहीं हटाई जा सकती? क्या हम उसी जीवन-शृंखला की एक कड़ी नहीं, जिसके कि पशु-पक्षी हैं? क्या जानवरों को जीवित रहने का वही नैतिक अधिकार नहीं जो हम लोगों को है? क्या उनका मूल्य उनके समाज में उतना ही नहीं जितना कि हमारा मूल्य हमारे समाज मे है? दांपत्य प्रेम तो कहीं कहीं जानवरो मे मनुष्यों के ही बराबर देखा गया है। क्या पशु, पक्षी, कीट, पतंग इस विश्व के कार्य-विभाग मे स्थान नहीं पाते? क्या विकासवाद के मत से जीवधारी मात्र एक कुटुंब के नहीं हैं? पशु, पक्षी, कीट, पतंग संसार

के कार्य-विभाग में अपना अपना काम कर रहे हैं। वृक्षों के फलवान् होने में पक्षी, कीट, पतंग कहाँ तक साहाय्य देते हैं, यह बात किसी विज्ञ पुरुष से छिपी नहीं है। हम जिन श्रेणियों द्वारा विकास को प्राप्त हुए, अब ऊँचे बनकर उनका तिरस्कार करना हमारी उच्चता को शोभा नहीं देता। दूसरी बाधा पर विचार करते हुए हम केवल इतना ही कहेंगे, कि बदले का व्यवहार कानून की दृष्टि में चाहे आवश्यक हो, किंतु धर्म और कर्त्तव्य की दृष्टि से यह बाहर है। कर्त्तव्य-पालन द्वारा हमको सद्‌गुण-वृद्धि तथा आत्म-तुष्टि सरीखे मधुरतम फल मिलते हैं। यदि बदले की रीति से देखा जाय, तो भी मनुष्य अपना सिर ऊँचा नहीं कर सकता। पशुओं से मनुष्यजाति का जो उपकार हुआ है, वह हिंसक पशुओं द्वारा पहुँचाई हुई हानि से अधिक है। खैर, इस बात को जाने दीजिए। मनुष्य-समाज ने हिंसक पशुओं से बदला लेने मे कुछ रख नहीं छोड़ा। केवल इतना ही नहीं, वरन् और पशु भी, जो मनुष्य-जाति की हानि करते हैं, मनुष्य द्वारा उचित दंड पाए बिना नहीं रहते। फिर मनुष्यों को क्या अधिकार है कि वे निरपराध पशुओं को सतावे? वे तो बदला ले नहीं सकते। पारस्परिक उपकार का प्रश्न भी एक प्रकार से नहीं उठता। पशु-संसार मनुष्य से उपकार नहीं चाहता, वह तो अभयदान चाहता है। वह सहायता नहीं चाहता, इतना ही चाहता है, कि मनुष्य अपनी हननेच्छा को थोड़ा वश में रखे। मनुष्य

की उनके प्रति इतनी ही सेवा पर्याप्त है, कि वह उन्हें जीवित रहने दे। वे ऐसी सेवा चाहते हैं, जैसी कि निषाद ने श्रीरामचंद्र को अपनी सेवा बतलाई थी कि 'यह हमार अति बड़ि सेवकाई। लेहि न भूषण वसन चुराई'। तीसरी कठिनाई जो व्यक्तिता के विषय में है, पहली कठिनाई से मिलती-जुलती है। व्यक्तिता की भी श्रेणी है। माना कि पशु-पक्षियों की व्यक्तिता मनुष्य की भाँति स्पष्ट नहीं है; और न उनमें मनुष्य का सा आत्म-भाव (Personality) ही वर्तमान है; किंतु उनमे व्यक्तिता और आत्मभाव किसी न किसी अंश मे है अवश्य। उनकी व्यक्तिता उस पौधे की भाँति है, जो थोड़ा ही बढ़कर रह गया हो। जानवरों में यदि मनुष्य की सी व्यक्तिता और आत्मभाव वर्तमान होता तो, उस अवस्था मे, वे मनुष्य की बराबरी का ही दावा कर सकते थे। किंतु इस अवस्था में क्या वे जीवन-दान की भी आशा नहीं रख सकते? वे मनुष्य की बराबरी नहीं चाहते, वे मनुष्य की राजनैतिक सभाओं के सदस्य नहीं होना चाहते, जिसके लिये उनकी मानसिक योग्यता पर विचार किया जाय। वे तो जीवधारी हैं, इसी से केवल जीवित रहने का अधिकार चाहते हैं। इन सब बातों पर विचार करके हम अपने समाज की सीमा को प्राणिमात्र तक बढ़ा दें, तो हम अपनी सच्ची आत्म-प्रतीति के सच्चे सहायक ही बनेंगे। समाज को इस विस्तृत दृष्टि से देखने के लिए हमको अपने आत्म-संबंधी विचारों को भी

विस्तार देना होगा। जैसे जैसे हमारे आत्म-संबंधी विचार विस्तृत होते जाते हैं, वैसे ही वैसे हमारी आत्म-प्रतीति का क्षेत्र बढ़ता जाता है। जो लोग अपनी व्यक्तिता में ही अपनी आत्मा को संकुचित कर देते हैं, उनकी आत्म-प्रतीति स्वार्थ-साधन में ही होती है। किंतु हम उसे सच्ची आत्म-प्रतीति नहीं कह सकते। सच्ची आत्म-प्रतीति तभी हो सकती है, जब हम अपनी आत्मा को पूरा विस्तार देकर समष्टि की आत्मा से मिला दें और समष्टि के हित को अपना हित समझें। यह बात कठिन नहीं है। बहुत से लोग आत्म-कल्याण को देश के हित-साधन में देखते हैं, और बहुत से इससे भी आगे बढ़कर अपने हित को साम्राज्य के हित में मिला देते हैं। कुछ ऐसे भी होते हैं जो मनुष्य मात्र का हित और अपना हित एक कर देते हैं। इससे भी एक ऊँची श्रेणी प्राणिमात्र से अपनी एकता करनेवालों की है। हिंदू धर्म-ग्रंथों ने अधिकतर इसी विस्तृत भाव का उपदेश दिया है। स्मृति-ग्रंथों में अतिथि-सत्कार के साथ जानवरों को भी भाग देना गृहस्थों का धर्म बतलाया है 'सर्वभूतहिते रता.', 'जीवेषु दयां कुर्वन्ति साधव.', 'निर्वैर: सर्वभूतेषु', 'आत्मवत् सर्वभूतेषु य: पश्यति स पंडित:' इत्यादि वाक्यों द्वारा कर्त्तव्य को मनुष्य-समाज से बढ़ाकर प्राणि-मात्र के प्रति कर दिया है। यही पूर्ण आत्म-संभावना वा आत्म-प्रतीति है।

कुछ लोग इस विस्तृत दृष्टि पर यह शंका अवश्य उठावेंगे कि जो लोग अपने दृष्टि-कोण को इतना विस्तृत कर देंगे, उनको कोई भी पदार्थ स्पष्टतः न दिखाई पड़ेगा। जो लोग सबके हित में तत्पर रहते हैं, वे किसी के भी हित-साधन में सफल नहीं होते। कभी कभी ऐसा भी होता है, कि निकटवर्तियों के हित में और मनुष्य मात्र के हित मे विरोध पड जाता है; और जिनके प्रति हमारा मुख्य कर्त्तव्य है, वे हमारी उदारता से वंचित रह जाते हैं। इसलिये प्राणि-मात्र के हित-साधन की इच्छा न करते हुए समाज के एक परिमित भाग का ही हित-साधन श्रेय है। यह शंका क्रियात्मक है। इस शंका से हमारे सिद्धांत के न्याय्य होने मे बाधा नहीं पड़ती। अब इस पर कर्त्तव्य-बुद्धि से भी विचार कर लेना चाहिए। इस शंका के उठानेवाले स्वार्थ पर पूर्णतया विजय नहीं प्राप्त कर सकते। व्यवहार में स्वार्थ को जीतना कठिन है, किंतु यह बात किसी सिद्धांत की सत्यता मे बाधा नहीं डाल सकती। इस शंका का मूल इस विचार में है कि उपकारी मनुष्य के निकटवर्त्ती लोग उसके उपकार से लाभ उठाने के अधिकारी हैं। अँगरेजी में एक लोकोक्ति है कि 'Charity begins at home' अर्थात् दान का आरंभ घर से ही होना चाहिए। किंतु इसके ऊपर किसी ने यह भी कहा है 'But it should not end there' अर्थात् उसका अंत घर में ही न हो जाना

समाज की व्याप्ति बढ़ाने में संभावित आपत्तियाँ और उनका निराकरण

चाहिए। हमारे कहने का यह मतलब नहीं कि घर के लोग भूखों मरें और बाहरवालों को धन लुटाया जाय। किंतु इतना अवश्य मानना पड़ेगा, कि जो स्वार्थत्याग, आत्म-समर्पण और उदारता के गुण मनुष्य-मात्र के लिये उदारता दिखलाने मे बढ़ते हैं, वे निकटवर्ती लोगों के साथ दिखाने में नहीं बढ़ते।

निकटवर्ती लोगों के साथ उपकार करने में एक प्रकार का उदात्त स्वार्थ लगा रहता है। बाइबिल मे * ईसा मसीह ने डाकुओं द्वारा आहत एक मनुष्य का आख्यान कहते हुए बतलाया है कि 'तेरा पड़ोसी वही है, जिसके साथ तू उपकार कर सके।' जब हम अपना स्वार्थ छोड़कर "वसुधैव कुटुंबकम्" के सिद्धांत को मानने लगेंगे, तब समीप और दूर के लोग बराबर हो जायँगे। यह अवश्य मानना पड़ेगा, कि कोई एक मनुष्य सारे विश्व का उपकार नहीं कर सकता। वह अपने निकटवर्ती लोगों के साथ ही उपकार करेगा। किंतु उपकार करते समय, जिस बुद्धि से कार्य किया जाय, उसमे ही स्वार्थ और परार्थ हो जाता है। जब हम किसी का उपकार स्वार्थ-बुद्धि से करते हैं, तब हम स्वार्थी हैं। किंतु जब स्वार्थ त्यागकर किसी का उपकार करते हैं, तब हम विश्व का ही हित-साधन करते हैं। जिस मनुष्य का हम उपकार करते हैं, वह विश्व का एक अंग है और अंग अंगी से पृथक् नहीं। जो हमारी किसी उँगली पर मरहम लगावे, तो वह हमारे सारे

---

* लूक रचित सुसमाचार अध्याय १०।३०।–३७।

शरीर की ही सेवा करता है। हम उपकार चाहे जिसके साथ करें, किंतु हमारी बुद्धि निःस्वार्थ होनी चाहिए। यदि हम निकटवर्ती लोगों के साथ उपकार कर रहे हैं, और कोई ऐसा अवसर आ जाय, कि दूर का मनुष्य हमारी सहायता की आवश्यकता रखता हो, और उसको सहायता पहुँचाना संभव भी हो और हम उसकी सहायता न करें, केवल इस विचार से कि उस मनुष्य से हमारा कोई संबंध नहीं, तो हमको विश्व-हित के विरुद्ध जाना होगा। यदि यह कहा जाय कि देश-हित और मानव-जाति के हित में कभी कभी विरोध पड़ता है, अथवा कुटुंब के हित और समाज के हित में विरोध पड़ता है, तो क्या ऐसी अवस्था में विस्तृत दृष्टि ही श्रेय है? देखा गया है कि बहुत से बड़े बड़े आदमियों ने देश-हित के लिये कुटुंब के हित को तिलांजलि दी है। राजकीय आईन की मान-मर्यादा रखने के लिये अपने पुत्र वा निकटवर्ती कुटुंबियों को प्राणदंड तक दिया गया है। अपनी रक्षा कुटुंब की रक्षा से है, कुटुंब की रक्षा देश की रक्षा से है, देश की रक्षा मानव-जाति की रक्षा से है और मानव-जाति की रक्षा विश्व की स्थिति में है। कभी कभी देश और मानव जाति के हित में जो विरोध पड़ा करता है, उसका कारण यह है कि मानव-समाज में अभी भिन्न भिन्न आदर्श वर्तमान हैं। जैसे जैसे आदर्शों की एकता होती जायगी और जैसे जैसे मनुष्य-समाज एक प्रेम-सूत्र में बँधता जायगा, वैसे ही वैसे देश-भक्ति और विश्व-प्रेम में

विरोध घटता जायगा। मानव-जाति का एक बड़ा साम्राज्य बन जायगा, जिसमे पशु-पक्षी आदि भी अपना उचित स्थान पावेंगे। एक नियम में बद्ध होने से विरोध घट जाता है। मनुष्य-समाज इस आदर्श की ओर जा रहा है। इस आदर्श की पूर्ति में योग देना प्रत्येक मनुष्य का धर्म है। एक नियम और आदर्श में बद्ध समाज में रहकर ही सच्ची आत्म-प्रतीति की संभावना है। जो इस संभावना को वास्तविकता में परिणत करने की चेष्टा करते हैं, वे उस चेष्टा मे अपनी आत्म-प्रतीति कर रहे हैं। जब समाज मे रहकर और समाज के हित से अपना हित मिला देने में ही आत्म-प्रतीति की आशा है, तब समाज से प्रतिष्ठित धर्मों को अपने आदर्श में घटाना आवश्यक है।

—गुलाबराय, एम० ए०

---

(५) श्रद्धा-भक्ति

किसी मनुष्य में जन-साधारण से विशेष गुण वा शक्ति का विकास देख उसके संबंध में जो एक प्रकार का स्थायी आनंद हृदय मे स्थापित हो जाता है उसे श्रद्धा कहते हैं। श्रद्धा महत्त्व की आनंदपूर्ण स्वीकृति है। यदि हमें निश्चय हो जायगा कि कोई मनुष्य बड़ा वीर, बड़ा सज्जन, बड़ा गुणी, बड़ा दानी, बड़ा विद्वान्, बड़ा परोपकारी वा बड़ा धर्मात्मा है तो वह हमारे आनंद का एक विषय हो जायगा। उसका नाम आने पर हम प्रशंसा करने लगेंगे; उसे सामने देख आदर से सिर नवाएँगे। किसी प्रकार का स्वार्थ न रहने पर भी हम सदा उसका भला चाहेंगे, उसकी बढ़ती से प्रसन्न होंगे और अपने आनंद मे व्याघात पहुँचने के कारण उसकी निंदा न सह सकेंगे। इससे सिद्ध होता है कि जिन कर्मों के प्रति श्रद्धा होती है उनका होना संसार को वांछित है। यही विश्व-कामना श्रद्धा की प्रेरणा का मूल है।

प्रेम और श्रद्धा मे अंतर यह है कि प्रेम प्रिय के स्वाधीन कार्यों पर ही निर्भर नहीं होता—कभी कभी किसी का रूप मात्र, जिसमें उसका कुछ भी हाथ नहीं, उसके प्रति प्रेम उत्पन्न होने का कारण होता है; पर श्रद्धा ऐसी नहीं है।

किसी की सुंदर आँख या नाक देखकर उसके प्रति श्रद्धा नहीं उत्पन्न होगी, प्रीति उत्पन्न हो सकती है। प्रेम के लिये इतना ही बस है कि कोई मनुष्य न जाने क्यों हमें अच्छा लगता है, पर श्रद्धा के लिये आवश्यक यह है कि कोई मनुष्य जान बूझ-कर अपने को ऐसी स्थिति में डाले जिसमे उसके अंत:करण का सौंदर्य और महत्त्व दिखाई पड़े। श्रद्धा का व्यापार-स्थल विस्तृत है; प्रेम का एकांत। प्रेम मे घनत्व अधिक है और श्रद्धा में विस्तार। किसी मनुष्य से प्रेम रखनेवाले दो ही एक मिलेंगे, पर उस पर श्रद्धा रखनेवाले सैकड़ों, हजारों, लाखों क्या करोड़ों मिल सकते हैं। सच तो यों है कि इसी श्रद्धा के आश्रय से लोक मे उन कर्मों के महत्त्व का भाव दृढ़ होता रहता है जिन्हें धर्म कहते हैं और जिनसे मनुष्य-समाज की स्थिति है। कर्त्ता से बढ़कर कर्म्म का स्मारक दूसरा नहीं। कर्म्म की क्षमता प्राप्त करने के लिये बार बार कर्त्ता ही की ओर आँख उठती है। कर्म्मों से कर्त्ता की स्थिति को जो मनोहरता प्राप्त हो जाती है उस पर मुग्ध होकर बहुत से प्राणी उन कर्म्मों की ओर प्रेरित होते हैं। कर्त्ता अपने सत्कर्म्म द्वारा एक विस्तृत क्षेत्र में मनुष्य की सद्वृत्तियों के आकर्षण का एक शक्ति-केंद्र हो जाता है। जिस समाज में किसी ऐसे ज्योतिष्मान् शक्ति-केंद्र का उदय होता है उस समाज में भिन्न भिन्न हृदयों से शुभ भाव-नाएँ मेघ-खंडों के समान उठकर तथा एक ओर और एक साथ अग्रसर होने के कारण परस्पर मिलकर इतनी घनी हो जाती

हैं कि उनकी घटा सी उमड़ पड़ती है और •मंगल की ऐसी वर्षा होती है कि सारे दुःख और क्लेश वह जाते हैं।

हमारे अंतःकरण मे प्रिय के आदर्श रूप का संघटन प्रिय के व्यक्तित्व मात्र के आश्रय से हो सकता है, पर श्रद्धेय के आदर्श रूप का संघटन उसके फैलाए हुए कर्म्म-तंतु के उपादान से होता है। प्रिय का चितन हम आँख मूँदे हुए, संसार को भुलाकर, करते हैं, पर श्रद्धेय का चितन हम आँख खोले हुए, संसार का कुछ अंश सामने रखकर, करते हैं। यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जाग्रति है। प्रेमी प्रिय को अपने लिये और अपने को प्रिय के लिये संसार से अलग करना चाहता है। प्रेम में केवल दो पक्ष होते हैं, श्रद्धा मे तीन। प्रेम में कोई मध्यस्थ नहीं; पर श्रद्धा मे मध्यस्थ अपेक्षित है। प्रेमी और प्रिय के बीच कोई और वस्तु अनिवार्य नहीं, पर श्रद्धावान् और श्रद्धेय के बीच कोई वस्तु चाहिए। इस बात का स्मरण रखने से यह पहचानना उतना कठिन न रह जायगा कि किसी के प्रति किसी का कोई आनंदांतर्गत भाव प्रेम है या श्रद्धा। यदि किसी कवि का काव्य बहुत अच्छा लगा, किसी चित्रकार का बनाया चित्र बहुत सुंदर जँचा और हमारे चित्त में उस कवि या चित्रकार के प्रति एक सुहृद् भाव उत्पन्न हुआ तो यह भाव श्रद्धा है, क्योंकि यह काव्य वा चित्र रूप मध्यस्थ द्वारा प्राप्त हुआ है। प्रेम का कारण प्रायः अनिर्दिष्ट और अज्ञात होता है पर श्रद्धा का कारण निर्दिष्ट और ज्ञात होता है। कभी

कभी केवल एक साथ रहते रहते दो प्राणियों में यह भाव उत्पन्न हो जाता है कि वे बराबर साथ रहे, उनका साथ कभी न छूटे। प्रेमी प्रिय के संपूर्ण जीवन-कर्म्म के सतत साक्षात्कार का अभिलाषी होता है। वह उसका उठना, बैठना, चलना, फिरना, सोना, खाना, पीना, सब कुछ देखना चाहता है। संसार में बहुत से लोग उठते, बैठते, चलते, फिरते हैं, पर सबका उठना, बैठना, चलना, फिरना उसको वैसा अच्छा नहीं लगता। प्रेमी प्रिय के जीवन को अपने जीवन से मिलाकर अपने लिये एक छोटे ढाँचे की दुनिया खड़ी करना चाहता है। सारांश यह कि श्रद्धा में दृष्टि पहले कर्म्मों पर से होती हुई श्रद्धेय तक पहुँचती है और प्रीति में प्रिय पर से होती हुई उसके कर्म्मों आदि पर जाती है। एक में व्यक्ति को कर्म्मों द्वारा मनोहरता प्राप्त होती है और दूसरी से कर्मों को व्यक्ति द्वारा मनोहरता प्राप्त होती है। एक में कर्म्म प्रधान है, दूसरी में व्यक्ति।

यद्यपि ऊपर दोनों भावों में भेद दिखा दिया गया है, पर यह भेद उनकी उत्पत्ति के ही समय अधिक स्पष्ट रहता है परिपक्वावस्था में नहीं। कभी कभी एक के द्वारा दूसरे की प्राप्ति और पुष्टि होती है। कहीं कहीं तो यह भेद अत्यंत सूक्ष्म रहता है। किसी के रूप को स्वयं देखकर हम तुरंत मोहित होकर उससे प्रेम कर सकते हैं पर उसके रूप की प्रशंसा किसी दूसरे से सुनकर चट हमारा प्रेम नहीं उमड़ पड़ेगा, हमारा

पहला भाव श्रद्धा का होगा, फिर उसके उपरांत वह प्रेम में परिणत हो सकता है। बात यह है कि प्रेम एक मात्र अपने ही अनुभव पर निर्भर है पर श्रद्धा लोक-संग्रह से लगाव रखने के कारण दूसरों के अनुभव पर भी चलती है। रूप की भावना का बहुत कुछ संबंध व्यक्तिगत रुचि से होता है। अतः किसी के रूप और हमारे बीच यदि तीसरा व्यक्ति आया तो इस व्यापार में सामाजिकता आ गई, क्योंकि हमें पहले यह ध्यान हुआ कि उस रूप से एक तीसरे व्यक्ति को आनंद वा सुख मिला और बहुतों को मिलता होगा। जब तक हम किसी के रूप, शील, स्वभाव, गुण आदि का बखान सुनकर 'वाह, वाह' करते जायँगे तब तक श्रद्धालु ही कहलावेंगे; पर जब हम उसके दर्शन के लिये आकुल होंगे, उसे बराबर अपने सामने ही रखना चाहेंगे तब प्रेम का सूत्रपात समझा जायगा। श्रद्धा-भाजन के व्यक्तित्व पर श्रद्धावान् अपने लिये किसी प्रकार का अधिकार नहीं चाहता, पर प्रेमी प्रिय के हृदय पर अपना अधिकार चाहता है।

श्रद्धा एक सामाजिक भाव है, इससे अपनी श्रद्धा के बदले में हम श्रद्धेय से अपने लिये कोई बात नहीं चाहते। श्रद्धा धारण करते हुए हम अपने को उस समाज में समझते हैं जिसके किसी अंश पर—चाहे हम व्यष्टि रूप से उसके अंतर्गत न भी हों—जान-बूझकर उसने कोई शुभ प्रभाव डाला है। श्रद्धा स्वयं ऐसे कर्मों के प्रतिकार से होती है जिनका लक्ष्य अकेले

हम नहीं बल्कि सारा मनुष्य-समाज है। श्रद्धा एक ऐसी आनंदपूर्ण कृतज्ञता है जिसे हम केवल समाज के प्रतिनिधि रूप से प्रकट करते हैं। सदाचार पर श्रद्धा और अत्याचार पर क्रोध या घृणा प्रकट करने के लिये समाज ने प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिनिधित्व दे रखा है। यह काम उसने इतना भारी समझा है कि उसका भार सारे मनुष्यों को बाँट दिया है, दो चार माननीय लोगों के ही सिर पर नहीं छोड़ रखा है। जिस समाज में सदाचार पर श्रद्धा और अत्याचार पर क्रोध प्रकट करने के लिये जितने ही अधिक लोग तत्पर पाए जायँगे उतना ही वह समाज जाग्रत समझा जायगा। श्रद्धा की लोक-संग्रह-कारिता एक इसी बात से समझ लीजिए कि जिस पर हम श्रद्धा रखते हैं उस पर चाहते हैं कि और लोग भी श्रद्धा रखे, पर जिस पर हमारा प्रेम होता है उससे और दस पाँच आदमी प्रेम रखें इसकी हमे परवा क्या इच्छा ही नहीं होती, क्योंकि हम प्रिय के व्यक्तित्व पर लोभवश एक प्रकार का अनन्य अधिकार वा इजारा चाहते हैं। श्रद्धालु अपने भाव में संसार को भी सम्मिलित करना चाहता है पर प्रेमी नहीं।

जब तक समष्टि रूप में हमें संसार के लक्ष्य का बोध नहीं होता और हमारे अंतःकरण में सामान्य आदर्शों की स्थापना नहीं होती तब तक हमें श्रद्धा का अनुभव नहीं होता। बच्चों से कृतज्ञता का भाव पाया जाता है पर सदाचार के प्रति उस कृतज्ञता का नहीं जिसे श्रद्धा कहते हैं। अपने साथ किए

जानेवाले जिस व्यवहार के लिये वे कृतज्ञ होते हैं उसी को दूसरों के साथ होते देख कर्त्ता के प्रति कृतज्ञ होना वे देर में सीखते हैं—उस समय सीखते हैं जब समाजांतर्गत होने की बुद्धि अचेतनरूप में उदित होने लगती है। अपने साथ या किसी विशेष मनुष्य के साथ किए जानेवाले व्यवहार के लिये जो कृतज्ञता होती है वह श्रद्धा नहीं है। श्रद्धालु की दृष्टि सामान्य की ओर होनी चाहिए, विशेष की ओर नहीं। अपने संबंधी के प्रति किसी को कोई उपकार करते देख यदि हम कहें कि उस पर हमारी श्रद्धा हो गई है तो यह हमारा पाषंड है, हम झूठमूठ अपने को ऐसे उच्च भाव का धारणकर्त्ता प्रकट करते हैं। पर उसी सज्जन को दस पाँच और ऐसे आदमियों के साथ जब हम उपकार करते देखें, जिन्हें हम जानते तक नहीं और इस प्रकार हमारी दृष्टि विशेष से सामान्य की ओर जाय, तब यदि हमारे चित्त मे उसके प्रति पहले से कहीं अधिक कृतज्ञता वा पूज्यबुद्धि का उदय हो तो हम श्रद्धालु की उच्च पदवी के अधिकारी हो सकते हैं। सामान्य रूप में हम किसी के गुण वा शील का विचार सारे संसार के संबंध से करते हैं, अपने या किसी विशेष प्राणी के संबंध से नहीं। हम देखते हैं कि किसी मनुष्य में कोई गुण वा शक्ति है जिसका प्रयोग वह चाहे जहाँ और जिसके प्रति कर सकता है।

श्रद्धा का मूल तत्त्व है दूसरे का महत्त्व-स्वीकार। अतः जिनकी स्वार्थबद्ध दृष्टि अपने से आगे नहीं जा सकती अथवा

अभिमान के कारण जिन्हें अपनी ही बड़ाई के अनुभव की लत लग गई है उनमे इतनी उदारता नहीं आ सकती कि श्रद्धा ऐसे पवित्र भाव को धारण करें। स्वार्थियों और अभिमानियों के हृदय में श्रद्धा नहीं टिक सकती। उनका अंतःकरण इतना संकुचित और मलिन होता है कि वे दूसरों की कृति का यथार्थ मूल्य नहीं परख सकते।

भिन्न भिन्न मानसिक संस्कार के लोगों में किसी विषय से संबंध रखनेवाली श्रद्धा भिन्न भिन्न मात्रा की हुआ करती है। यदि किसी को शारीरिक बल, साहस या चतुराई पर अत्यंत अधिक श्रद्धा है तो वह इनका दुरुपयोग देखकर भी बनी रह सकती है; अत्याचारियों के बल, डाकुओं के साहस और लंपटों की चालाकी की तारीफ संसार में थोड़ी बहुत होती है। एक बात और है। यदि किसी पर किसी एक विषय मे अत्यंत अधिक श्रद्धा है तो उसकी अन्य विषयों की त्रुटियों पर प्रायः ध्यान नहीं जाता और कभी कभी ध्यान जाता भी है तो वे सुहावनी ही लगती हैं। कोई प्रतिभाशाली कवि, विलासप्रिय मद्यप या सनकी है तो जो अत्यत काव्यप्रेमी होंगे उनको घृणा को उसके वे दुर्गुण पूर्ण रूप से आकर्षित न कर सकेंगे, यहाँ तक कि उसके इन दुर्गुणों की चर्चा भी वे बड़े मनोरंजन के साथ करेंगे और सुनेंगे। बात यह है कि मनुष्य का अंत.करण एक है; उसकी एक साथ दो परस्पर विरुद्ध स्थितियाँ नहीं हो सकतीं। इस प्रकार की मानसिक स्तब्धता को श्रद्धांधता कह

सकते हैं। यद्यपि श्रद्धांध समाज में उतना अनर्थकारी नहीं हो सकता, उतना अपराधी नहीं ठहराया जा सकता जितना मदांध, क्रोधांध वा ईर्षांध, पर उसकी श्रद्धा के बढ़ते बढ़ते क्रियमाण रूप धारण करने पर और शील-संबंधिनी चेतना को बिलकुल जवाब मिल जाने पर, समाज के अनिष्ट में व्याज से सहायता पहुँच सकती है। यदि किसी अपव्ययी और मद्यप कवि पर अत्यंत श्रद्धालु होकर कोई उसकी आर्थिक सहायता करता जाता है तो वह उस अन्याय और उपद्रव का थोड़ा बहुत उत्तरदाता अवश्य होता है, जो कविजी अपने सह-वर्तियों के बीच करने में समर्थ होते हैं। यदि किसी पहल-वान के बल पर प्रसन्न होकर कोई उसे हलुवा पूड़ी खाने के लिये कुछ महीना बाँधता है तो उसके गुंडेपन के कारण लोगों को पहुँची हुई पीड़ा के दोष का वह कम से कम उतना भाग अवश्य पा सकता है जितना इंद्रकृत हत्या की बँटाई के समय बहुतों को मिला था। उद्देश्य के अभाव के बल से यद्यपि इन दोनों श्रद्धालुओं पर दोष उतना सटीक नहीं लग सकता पर समाज की दृष्टि में वे दान के पात्रता-संबंधी अविवेक के अभियोग से नहीं बच सकते। अब यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि शील, कला और साधन-संपत्ति श्रद्धा के इन तीनों विषयों में से किसका ध्यान मनुष्य को पहले होना चाहिए और किसका पीछे। इसका बेधड़क यही उत्तर दिया जा सकता है कि जन-साधारण के लिये शील का ही सबसे पहले ध्यान

होना स्वाभाविक है क्योंकि उसका संबंध मनुष्य मात्र की सामान्य स्थिति-रक्षा से है, उसके अभाव में समाज वा उस आधार की स्थिति ही नहीं रह सकती जिसमें कलाओं की उपयोगिता वा मनोहारिता का प्रसाद और साधन-संपत्ति की प्रचुरता का वितरण और व्यवहार होता है।

दूसरों की श्रद्धा संसार मे एक अत्यंत वांछनीय वस्तु है क्योंकि वह एक प्रकार का ऐसा परकीय निश्चय वा विश्वास है जिसके सहारे स्वकीय कार्य्य सुगम होता है, जीवन की कठिनता कम होती है। जिस पर लोगों की अश्रद्धा होती है उसके लिये व्यवहार के सब सीधे और सुगम मार्ग बंद हो जाते हैं—उसे या तो काँटों पर या ढाई कोस नौ दिन में चलना पड़ता है। पर जो किसी प्रकार दूसरों की श्रद्धा संपादित कर लेता है उसके पैर रखने के लिये फूलों की पँखुरियाँ—आजकल लाल बनात—बिछाई जाती हैं। समाज में ये वस्तुएँ सच्चे गुणियों और परोपकारियों के लिये हैं पर इन्हें छीनने और चुराने की ताक में बहुत से चोर, चाई और उचक्के रहते हैं जो इनके द्वारा स्वार्थसाधन करना वा अपनी तुच्छ मानसिक वृत्तियों को तृप्त करना चाहते हैं। इनसे समाज को हर घड़ी सावधान रहना चाहिए, इन्हें सामाजिक दंड देने के लिये उसे सदा सन्नद्ध रहना चाहिए। ये अनेक रूपों में दिखाई पड़ते हैं। कोई गेरुआ वस्त्र लपेटे धर्म का डंका पीटता दिखाई देता है, कोई देशहितैषिता का चोला पहने देशोद्धार

को पुकार करता पाया जाता है। मनुष्य किसी ओर तीन प्रकार से प्रवृत्त होता है—मन से, वचन से और कर्म से। इनमें से मन तो देखने दिखाने की चीज नहीं। वाणी और कार्य्यप्रणाली का नकल की जाती है, और बड़ी सफाई से की जाती है। हितोपदेश के गदहे ने तो बाघ की खाल ही ओढ़ी थी पर ये लोग बाघ की बोली भी बोल लेते हैं। कहीं कहीं केवल वचन ही से काम निकल जाता है। एक दिन मैं काशी की एक गली से जा रहा था। एक ठठेरे की दूकान पर कुछ परदेशी यात्री किसी बरतन का मोल-भाव कर रहे थे और कह रहे थे कि इतना नहीं इतना लो तो ले। इतने ही में सौभाग्यवश दूकानदार को ब्रह्मज्ञानियों के वाक्य याद आ गए और उसने चट कहा—"माया छोड़ो और इसे ले लो।" सोचिए तो, काशी ऐसा पुण्यक्षेत्र! यहाँ न माया छोड़ी जायगी तो कहाँ छोड़ी जायगी? थोड़े दिन हुए कि किसी लेखक ने कहीं पढ़ा कि प्रतिभाशाली लोग कुछ उग्रता और पागलपन लिए होते हैं। तब से वे बराबर अपने मे इन दोनों शुभ लक्षणों की स्थापना के यत्न मे लगे रहते हैं। सुनते हैं कि पहले में वे कुछ कृतकार्य्य भी हुए हैं, पर पागलपन की नकल करना कुछ हँसी खेल नहीं, भूल-चूक से कुछ समझदारी की बातें मुँह से निकल ही जाती हैं।

जैसे और सब विद्याओं की वैसे ही परश्रद्धाकर्षण की विद्या की भी आजकल खूब उन्नति हुई है। श्रद्धा के यथार्थ

कारण का जितना ही अभाव हो आकर्षण को अपनी विद्या मे उतना ही दक्ष समझना चाहिए। आजकल सार्वजनिक उद्योगों की बड़ी धूम रहा करती है और बहुत से लोग निराहार परोपकार-व्रत करते सुने जाते हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि परश्रद्धा के सहारे कार्य्य मे सुगमता आती है अत: किसी उद्दिष्ट कार्य्य-साधन के लिये जो लोग प्रयत्न द्वारा दूसरों के हृदय में श्रद्धा उत्पन्न करते हैं वे उस कार्य्य के अनुसार चतुर, नीतिकुशल, धूर्त्त या पाखंडी कहे जाते हैं। पर संसार में बहुत से ऐसे लोग भी होते हैं जिन्हे अपने विषय मे पराई श्रद्धा के चिंतन से जो एक प्रकार का आनंद मिलता है, उसकी लत पड़ जाती है, वे पर-श्रद्धा को मनोरंजन वा मानसिक भोग-विलास की एक सामग्री समझते हैं। वे पराई श्रद्धा केवल इसी निमित्त चाहते हैं, और किसी उद्देश्य से नहीं। ऐसे परश्रद्धाभिलाषियों को मानसिक दुर्व्यसन रहता है और वे उसी प्रकार दुर्व्यसनी कहे जा सकते हैं जिस प्रकार शरावी, गँजेड़ी और चंडूबाज आदि। पर समाज की श्रद्धा ऐसे अपव्यय के लिये नहीं है, प्रयोजन के लिये है। ऐसे लोग अपनी धुन में कभी कभी बड़े बडे सार्वजनिक कार्य्य भी छेड़ बैठते हैं जिनका होना उन्हें इतना अभीष्ट नहा होता जितना अपने द्वारा होना

ऊपर कहा जा चुका है कि श्रद्धावान् अपनी श्रद्धा द्वारा श्रद्धेय मे कोई ऐसा परिवर्तन उपस्थित नहीं किया चाहता

जिसका अपने लिये कोई अनुकूल फल हो। श्रद्धावान् श्रद्धेय को प्रसन्न करने की इच्छा कर सकता है पर उस प्रसन्नता से आप कोई लाभ उठाने की नहीं। श्रद्धा न्याय-बुद्धि के पलड़े पर तुली हुई एक वस्तु है जो दूसरे पलड़े पर रखे हुए श्रद्धेय के गुण, कर्म्म आदि के हिसाब से होती है। श्रद्धा सत्कर्म्म वा सद्गुण ही का मूल्य है जिससे और किसी प्रकार का सौदा नहीं हो सकता। पर जब कि इस व्यापार-युग में ज्ञान बिकता है, न्याय बिकता है, धर्म्म बिकता है तब श्रद्धा ऐसे भाव क्यों न बिकें? पर असली भाव तो इस लेन-देन के व्यवहार के लिये उपस्थित नहीं किए जा सकते। खैर, नकली सही। एक भाव पर दूसरे भाव की कलई करके हम बाजार में क्यों न जायँ? अपनी भीरुता वा चापलूसी को हम 'श्रद्धा श्रद्धा' कहकर गलियों और संवादपत्रों में क्यों न पुकारें? ऐसे झूठे श्रद्धावानों से घिर-कर झूठे श्रद्धापात्र सच्चे श्रद्धापात्रों को क्यों न मात करें जब कि आजकल झूठे मोती सच्चे मोतियों को मात करते हैं?

कलाकुशल वा सदाचारी अपने चारों ओर प्रसन्नता देखना चाहता है, अतः अपनी श्रद्धा द्वारा हम उसे अपनी प्रसन्नता का निश्चय मात्र कराते हैं। हमारी प्रसन्नता से उसे अपनी सामर्थ्य का बोध हो जाता है और उसका उत्साह बढ़ता है। इस प्रकार अपनी श्रद्धा द्वारा हम भी समाज का मंगल-साधन करते हैं। दूसरे की श्रद्धा का श्रद्धेय पर इतना ही प्रभाव पड़ना चाहिए, इससे अधिक नहीं। यदि हमारी श्रद्धा के

कारण वह हमें किसी प्रकार का लाभ पहुँचाना चाहता है तो वह हमारी श्रद्धा को खुशामद समझता है और हमारा अपमान करता है। श्रद्धा में याचकता का भाव लेशमात्र भी नहीं है। श्रद्धा द्वारा हम अपने हृदय का परिचय मात्र देते हैं कि उसमें धर्मभाव है, सात्त्विक आचरण से प्रसन्न होने की क्षमता है। यदि हमें किसी पर श्रद्धा है तो हमें उसके पास जाकर यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि "महाराज! मेरी यह श्रद्धा स्वीकार हो।" इस प्रकार की स्वीकृति की हमें कोई आवश्यकता नहीं। हम अपनी श्रद्धा लिए अपने घर बैठे रह सकते हैं या उसे इस रीति से प्रकट कर सकते हैं जिस पर श्रद्धेय का कोई वश नहीं। यदि हमें किसी सुलेखक पर श्रद्धा है और वह हमसे रुष्ट है तो भी हम उसका सच्चा चित्र और चरित्र छाप सकते हैं। इसका स्वत्व हमें समाज द्वारा प्राप्त है—इसका हक हमे कानूनन हासिल है। पर यदि हम उस सुलेखक से प्रेम करने चले, उसके साथ साथ लगे फिरें और हर दम उसे घेरे रहें तो वह हमें हटा सकता है। श्रद्धा प्रदर्शित करने का जितना विस्तृत सामाजिक अधिकार हमे प्राप्त है उतना उसके विपरीत भाव अश्रद्धा वा घृणा प्रकट करने का नहीं, क्योंकि श्रद्धा यदि हमने भूल से वा स्वार्थवश प्रकट की तो किसी की उतनी हानि नहीं, पर यदि घृणा भूल से वा द्वेषवश प्रकट की तो व्यर्थ का संताप और दुःख फैल सकता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि श्रद्धा के विषय तीन हैं—शील, प्रतिभा और साधन-संपत्ति। शील वा धर्म से समाज की स्थिति, प्रतिभा से सुख और साधन-संपत्ति से शीलसाधन और प्रतिभा-विकास दोनों की संभावना है। श्रद्धेय समाज की स्थिति या सुख का विधान करता है और समाज उसकी स्थिति और सुख का विधान करता है। समाज अपने श्रद्धालु प्रतिनिधियों को कभी तो उसे आपत्ति से बचाने के लिये भेजता है, कभी कुछ भेंट उसके सामने रखने के लिये। श्रद्धावश जो दान दिया जाता है वह भी इसी प्रकार की भेंट है। दान दो प्रकार का होता है—एक वह जो श्रद्धावश दिया जाता है, दूसरा वह जो दयावश दिया जाता है। पंडितों, विद्वानों और धार्मिकों को जो दान दिया जाता है वह श्रद्धावश दिया जाता है; अंधों, लूलों और लँगड़ों को जो दान दिया जाता है वह दयावश दिया जाता है। श्रद्धा सामर्थ्य के प्रति होती है और दया असामर्थ्य के प्रति। जन-साधारण अपनी दया द्वारा केवल असामर्थ्य के उपस्थित परिणामों का कुछ स्थान के बीच और कुछ काल तक के लिये, निवारण कर सकते हैं। अतः श्रद्धा द्वारा वे ऐसे असाधारण जनों को अपने वित्तानुसार थोड़ी थोड़ी शक्ति प्रदान करते हैं जो असामर्थ्य वा असामर्थ्य के कारणों के निराकरण में समर्थ होते हैं। श्रद्धावश दान मे उपयोगिता का तत्त्व छिपा हुआ है। स्मृतियों में श्रद्धावश दान पर बड़ा जोर दिया गया है और ऐसे दान के विषय मे

पात्रापात्र का विचार भी खूब किया गया है। विद्यादान में रत विद्वानों को, परोपकार मे रत कर्म्मवीरों को, मानवज्ञान की वृद्धि मे तत्पर तत्त्वान्वेषकों को जो अभाव हो उसे हमें समाज की भूख समझना चाहिए। इन्हें जो कुछ हम श्रद्धा-वश देते हैं वह ठीक समाज के सुधरे पेट मे जाता है, जहाँ से रस रूप में उसका संचार अंग अंग में होता है। इसके विरुद्ध स्वार्थियों, अन्यायियो आदि को जो कुछ दिया जाता है वह समाज के अंग मे उसी प्रकार नहीं लगता जिस प्रकार अतीसार या संग्रहणीवाले को खिलाया हुआ अन्न। भारतवर्ष मे श्रद्धा का संबंध दान के साथ इतना गहरा समझा जाता है कि अश्रद्धापूर्वक दिया हुआ दान निष्फल माना जाता है। इसी से शुष्क प्रथानुसरण के रूप में भी यदि कुछ दिया जाता है तो श्रद्धा का नाम ले लिया जाता है। पंडो पुरोहितों को देते हुए यजमान भी कहता है कि "महाराज! इतनी ही श्रद्धा है" और पंडे पुरोहित भी कहते हैं कि "जितनी श्रद्धा हो उतना दो", यद्यपि इन पंडों और पुरोहितों के संबंध में सदा यह निश्चय नहीं रहता कि वे बड़े विद्वान्, बड़े धार्मिक या बड़े परोपकारी हैं। रागों या मनोवेगो के उपयुक्त विषयों के निश्चय मे कभी कभी बुद्धि की भी थोड़ी बहुत आवश्यकता होती है।

श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है। जब पूज्य भाव की वृद्धि के साथ साथ श्रद्धाभाजन के सामीप्य-लाभ की प्रवृत्ति हो, उसके व्यक्तित्व के कई रूपों के साक्षात्कार की

वासना हो, तब हृदय में भक्ति का प्रादुर्भाव समझना चाहिए। जब श्रद्धेय के दर्शन, श्रवण, कीर्त्तन, ध्यान आदि में आनंद का अनुभव होने लगे, जब उससे संबंध रखनेवाले श्रद्धा के अतिरिक्त विषयों की ओर भी मन आकर्षित होने लगे तब भक्तिरस का संचार समझना चाहिए। जब श्रद्धेय का उठना, बैठना, चलना, फिरना, हँसना, बोलना, क्रोध करना आदि भी हमें अच्छा लगने लगे तब हम समझ लें कि हम उसके भक्त हो गए। भक्ति की अवस्था प्राप्त होने पर हम अपने जीवन-क्रम का थोड़ा या बहुत अंश उसे अर्पित करने को प्रस्तुत होते हैं और उसके जीवन-क्रम पर भी अपना कुछ प्रभाव रखना चाहते हैं। कभी हम अर्पण करते हैं, कभी हम याच्ञा करते हैं। सारांश यह कि भक्ति द्वारा हम भक्ति-भाजन से विशेष विस्तृत संबंध स्थापित करते हैं, उसके जीवन में विशेष रूप से योग देना चाहते हैं। किसी के प्रति श्रद्धा धारण करके हम बहुत करेंगे तो समय समय पर उसकी प्रशंसा करेंगे, उसकी निंदा करने-वालों से झगड़ा करेंगे, या कभी कुछ उपहार लेकर उपस्थित होंगे। पर जिसके प्रति हमारी अनन्य भक्ति हो जायगी वह अपने जीवन के बहुत से अवसरों पर हमें अपने साथ देख सकता है—वह अपने बहुत से उद्योगों में हमारा योगदान पा सकता है। भक्त वे ही कहला सकते हैं जो अपने जीवन का बहुत कुछ अंश स्वार्थ से विभक्त करके किसी के आश्रय से किसी ओर लगा सकते हैं।

महात्माओं के ऊपर श्रद्धा मात्र करके हम उन्हें जीवनशक्ति द्वारा उपार्जित कोई फल प्रदान कर सकते हैं पर उनके भक्त होकर हम उन्हें अपने जीवन हो के कुछ अंश को अर्पित कर देते हैं। किसी वीरव्रती महात्मा पर बहुत श्रद्धालु होकर हम आर्थिक सहायता द्वारा उसके लिये कुछ सुवीता कर सकते हैं, अपने वचनों से उसे प्रसन्न और उत्साहित कर सकते हैं पर उसके भक्त बनकर हम अपने शारीरिक बल को उसका शरीरिक बल बनाएँगे, अपनी जानकारी और चतुराई को उसकी जानकारी और चतुराई बनाएँगे, अपनी वाग्मिता को उसकी वाग्मिता बनाएँगे, अपनी तत्परता को उसकी तत्परता बनाएँगे, यहाँ तक कि जो कुछ हममे होगा उसे हम उसका कर डालेंगे। इस प्रकार उसके जीवन में अपने जीवन का योग देकर उसके सामाजिक महत्त्व वा प्रभाव को बढ़ाएँगे और उसके थोड़े बहुत हम भी भागी होंगे। श्रद्धा द्वारा हम दूसरे के महत्त्व के किसी अंश के अधिकारी नहीं हो सकते पर भक्ति द्वारा हो सकते हैं, यहाँ तक कि दूसरे की भक्ति करके हम तीसरे की भक्ति के अधिकारी हो सकते हैं। राम पर अनन्य भक्ति करके हनुमान् अन्य रामभक्तों की भक्ति के अधिकारी हुए। श्रद्धालु महत्त्व को स्वीकार करता है पर भक्त महत्त्व की ओर अग्रसर होता है। श्रद्धालु अपने जीवन-क्रम को ज्यों का त्यों छोड़ता है पर भक्त उसकी काट-छाँट में लग जाता है। अपने आचरण द्वारा दूसरों की भक्ति के अधिकारी

होकर संसार के बड़े बड़े महात्मा समाज के कल्याण-साधन में समर्थ हुए हैं। गुरु गोविंदसिंह को यदि केवल दंडवत करनेवाले और गद्दी पर भेंट चढ़ानेवाले श्रद्धालु ही मिलते, दिन-रात साथ रहनेवाले अपने सारे जीवन को अर्पित कर देनेवाले भक्त न मिलते तो वे अन्याय-दमन में कभी समर्थ न होते। सारांश यह कि भक्ति के सामाजिक महत्त्व को, इसकी लोक-संग्रह-कारिणी शक्ति को, स्वीकार करने मे किसी को आगा-पीछा नहीं हो सकता। सामाजिक महत्त्व के लिये आवश्यक है कि या तो आकर्षित करो या आकर्षित हो। जैसे इस आकर्षण-विधान के बिना अणुओं द्वारा व्यक्त पिंडो का विकाश नहीं हो सकता वैसे ही मानव-जीवन की विशद अभिव्यक्ति भी नहीं हो सकती।

भक्ति में किसी ऐसे सान्निध्य की प्रवृत्ति होती है जिसके द्वारा हमारी महत्त्व के अनुकूल गति का विस्तार और प्रतिकूल गति का संकोच होता है। इस प्रकार का सामीप्य-लाभ करके हम अपने ऊपर पहरा बिठा देते हैं—अपने को ऐसे स्वच्छ आदर्श के सामने कर देते हैं जिसमे हमारे कर्म्मों का प्रतिबिंब ठीक ठीक दिखाई पड़ता है। जिसे अपनी वास्तविक क्षुद्रता का परिज्ञान अरुचिकर होगा वह सापेक्षिकता के भय से ऐसे महत्त्वादर्श का सामीप्य कभी न चाहेगा, दूर दूर भागा फिरेगा। 'हमीं हम' वाले 'तुम भी' नहीं सह सकते, 'तुम्हीं तुम' की क्या बात है। ऐसे लोग तो स्वयं अपने

लिये भक्त ढूँढ़ने निकलते हैं। भक्ति के लिये दैन्य अर्थात् दूसरे के महत्त्व के साथ अपने महत्त्व की भावना पहली बात है। इस भावना के साथ जब दुःख के स्थान पर आनंद मिश्रित होगा और हम दूसरे पर श्रद्धा कर लेंगे तब हम उसके महत्त्व के संतत साक्षात्कार के लिये अनेक रूपों मे परिचय के लिये उसके सामीप्य की इच्छा करते हुए प्रेम का भी मिश्रण करेंगे और अपने बहुत से क्रिया-कलाप को उसके अधीन करके स्वयं महत्त्व के अभ्यास में प्रवृत्त होंगे। जन-साधारण के लिये इस प्रकार आश्रय द्वारा महत्त्व की प्राप्ति सुगम होती है। जो उच्च पथ पहले कष्टकर और श्रमसाध्य जान पड़ता है वह भक्ति-द्वारा मनोहर लगने लगता है।

व्यक्ति-संबंध-हीन सिद्धांत-मार्ग निश्चयात्मिका बुद्धि को चाहे व्यक्त हों, पर प्रवर्त्तक मन को अव्यक्त रहते हैं। वे मनोरंजनकारी तभी लगते हैं जब किसी व्यक्ति के संबंध में देखे जाते हैं। यह मनोहारिता अनंत रूपों में दिखाई पड़ती है। मनुष्य-जाति ने जब से होश सँभाला तब से वह इन अनंत रूपों को महात्माओं के आचरणों तथा आख्यानों और चरित्र-संबंधी पुस्तकों में देखती चली आ रही है। जब इन रूपों पर मनुष्य मोहित होता है तब सात्त्विकशीलता की ओर आपसे आप आकर्षित होता है। शून्य सिद्धांत-वाक्यों मे निज की कोई आकर्षणशक्ति वा प्रवृत्तिकारिणी क्षमता नहीं होती। 'सदा सत्य बोलो', 'दूसरे की भलाई करो', 'क्षमा करना सीखो', ऐसे

ऐसे सिद्धांत-वाक्यों को किसी को बार बार बकते सुन वैसा ही क्रोध आता है जैसा किसी बेहूदे की बात सुनकर। जो इस प्रकार की बातें करता चला जाय उससे चट कहना चाहिए "बस चुप रहो, तुम्हें बोलने की तमीज नहीं, तुम बच्चों या कोल भीलों के पास जाओ। ये बातें हम पहले से जानते हैं। मानव-जीवन के बीच हम इनके सौंदर्य्य का विकास देखना चाहते हैं। यदि तुम्हें दिखाने की प्रतिभा या शक्ति हो तो दिखाओ, नहीं चुपचाप अपना रास्ता लो"। गुण प्रत्यक्ष नहीं होता, उसके आधार और लौकिक परिणाम प्रत्यक्ष होते हैं। अनुभवात्मक मन को आकर्षित करनेवाले आधार और परिणाम हैं, गुण नहीं। ये ही अनुभूति के विषय हैं। अनुभूति पर प्रवृत्ति और निवृत्ति निर्भर है। अनुभूति मन की पहली क्रिया है, संकल्प विकल्प दूसरी। अस्तु, सिद्धांत-पथों के संबंध में जो आनंदानुभव करने की बातें हैं, जो अच्छी लगने की बातें हैं वे पथिकों मे तथा उनके चारों ओर पाई जायँगी। सत्पथ के दीपक उन्हीं के हाथ में हैं—या वे ही सत्पथ के दीपक हैं। सात्त्विकशील प्राणियों के लिये ऐसे पथिकों के सामीप्य-लाभ की कामना करना स्वाभाविक ही है।

सामीप्य से अभिप्राय केवल किसी के साथ साथ लगा रहना नहीं है। श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण आदि भी सामीप्य-लाभ ही के अंतर्गत हैं। बाह्य और आभ्यंतर दोनों प्रयत्नों से सामीप्य की सिद्धि होती है। स्मरण द्वारा हम

अपने आराध्य को, उसके कर्म्मक्षेत्र को, अपने अंतःकरण के सामने उपस्थित करते हैं। यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि जब हम इष्ट के कर्म्मक्षेत्र को सामने लाते हैं तब उसमें ऐसे लोग भी तो आ जाते हैं, जिन पर हमारी कुछ भी भक्ति नहीं। हाँ, अवश्य आते हैं। इनके द्वारा हमारे इष्ट के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास दिखाई पड़ता है—इनके बीच उनका (इष्ट का) रंग और भी खुल पड़ता है। राम भी हमारे काम के हैं; रावण भी हमारे काम का है। एक में हम अपने लिये प्रवृत्ति का क्रम पाते हैं, दूसरे में निवृत्ति का। जीवन में इस निवृत्ति और प्रवृत्ति का प्रवाह साथ साथ चलता है। दुराचारी भी यदि अपने दुराचार का फल संसार के सामने पूर्ण रूप से भोग लेता है तो समाज के लिये उपयोगी ठहर जाता है। राम के हाथ से मारे जाने से रावण का जीवन भी कुछ सार्थक हो गया। यदि पापी अपने पाप का फल एकांत में वा अपनी आत्मा ही में भोग कर जाता है तो वह अपने जीवन की सामाजिक उपयोगिता की एकमात्र संभावना को भी नष्ट कर देता है। इसी से बहुत से प्रायश्चित्तों के विधान में पाप का सबके समक्ष कथन आवश्यक होता है। पाप का फल छिपानेवाला, पाप छिपानेवाले से अधिक अपराधी है। पर ऐसे बहुत से लोग होते हैं जो किसी का घर जलाते हाथ जलता है तो कहते हैं कि होम करते जला है। दुराचारियों के जीवन का सामाजिक उपयोग करने के लिये,

संसार मे धर्म की मर्यादा स्थापित करने के लिये ही श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त किया। यदि अधर्म मे तत्पर कौरवों का नाश न होता और पांडव जीवन भर मारे मारे ही फिरते तो संसार में अन्याय और अधर्म की ऐसी लीक खिंच जाती जो मिटाए न मिटता। जिस समाज में सुख और वैभव के रंग मे रँगी अधर्म की ऐसी लीक दिखाई पड़े उसमें रक्षा करनेवाली आत्मा का अविकास तथा विश्वात्मा की विशेष कला के अवतार की आवश्यकता समझनी चाहिए क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

यदा यदा हि धर्म्मस्य ग्लानिर्भवति भारत!
अभ्युत्थानमधर्म्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

यदि कहीं पाप है, अन्याय है, अत्याचार है तो उनका आशु फल उत्पन्न करना और संसार के समक्ष रखना लोकरक्षा का कार्य्य है। अपने ऊपर किए जानेवाले अत्याचार और अन्याय का फल ईश्वर के ऊपर छोड़ना व्यक्तिगत आत्मोन्नति के लिये चाहे श्रेष्ठ हो पर यदि अन्यायी या अत्याचारी अपना हाथ नहीं खोचता है, तो लोकसंग्रह की दृष्टि से वह उसी प्रकार आलस्य या कायरपन है जिस प्रकार अपने ऊपर किए हुए उपकार का कुछ भी बदला न देना कृतघ्नता है।

अब भगवद्भक्ति को लीजिए। ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट हो गया होगा कि मनुष्य की भक्ति के आधार क्या क्या हैं। मनुष्य विश्वविधान का एक क्षुद्र चेतन अंश

है। उसके धर्म्म, अधर्म्म, दया, निष्ठुरता आदि के भाव विश्व के उतने ही अंश से संबंध रखते हैं जितने के भीतर उसे कार्य्य करना है। यह कार्य्य और कुछ नहीं अपनी समष्टि-स्थिति और सुख संतोष का प्रयत्न मात्र है। अपने कार्य्य-क्षेत्र के बाहर यदि वह अपने इन भावों का सामंजस्य ढूँढ़ता है तो नहीं पाता है—कहीं उसे 'जीवो जीवस्य जीवनम्' का सिद्धांत चलता दिखाई पड़ता है, कहीं लाठी और भैंस का। यह सोचता है कि इन सिद्धांतों का अनुसरण मनुष्य-समाज में भी जान बूझ-कर क्यों न किया जाय, यह नहीं सोचता कि मानव-जाति की स्थिति इन अवस्थाओं से बहुत आगे बढ़ी है और चेतना की श्रेणी में उसके आगे की और कोई स्थिति उसे दिखाई नहीं पड़ रही है। वह दया को निरर्थक समझ अपने अंतःकरण का एक अंग ही खंडित करना चाहता है। वह किसी को काना देखकर अपनी भी एक आँख फोड़ने चलता है। कुछ दिनों पहले की सभ्यता मनुष्य-जीवन को देवतुल्य बनाने में थी, अब मर्कटतुल्य और मत्स्यतुल्य बनाने में समझी जाने लगी है। पर यह सभ्यता जड़त्व और नाश की ओर ले जानेवाली है। जब अंतःकरण की कुछ प्राप्त वृत्तियाँ बोझ मालूम होने लगी हैं तब और प्राणियों की अपेक्षा उसकी (अंतःकरण की) पूर्णता का गर्व मनुष्यजाति कब तक कर सकती है? उसकी (अंतःकरण की) अनेक दिग्गामिता के ह्रास और एक दिग्गामिता की वृद्धि के भयंकर परिणाम का आभास

योरप के महायुद्ध ने दे दिया है। मन, बुद्धि, चित्त आदि अंतःकरण की जितनी वृत्तियाँ हैं उनमें से कोई निरर्थक नहीं, सबका उपयोग है। इनमें से किसी की शक्ति फालतू नहीं। यदि मनुष्य इनमें से किसी को निष्क्रिय करने का अभ्यास डालेगा तो अपनी पूर्णता को खोएगा और अपनी स्थिति को जोखों में डालेगा।

मिट्टी के ढेले, गुलाब के पौधे, कुत्ते और बिल्ली की अपेक्षा मनुष्य अपने में अंशी का अधिक अंश समझता है—उस सर्वात्मा का अधिक अंश समझता है विश्वविधान जिसकी नित्य क्रिया है, अतः स्थिति-रक्षा-विधान की जो जो बातें अपने में हैं उनका अभाव उससे अंशी वा सर्व मे मानते नहीं बनता है। दया, दाक्षिण्य, प्रेम, क्रोध आदि अपनी अंशात्मा में देखते हुए सर्वात्मा में उनके अभाव की धारणा मनुष्य करे तो कैसे करे? अस्तु, ज्ञान-क्षेत्र में ईश्वर की खोज हम उतने ही घेरे में करेंगे जितने मे इंद्रियों की सहायता लेकर बुद्धि पहुँ-चती है, और कर्म-क्षेत्र मे उसकी भावना हम उसे उतने ही भावों से परिमित करके करेंगे जितने की हमारे मन में जगह है। हम हैं, हम समझते हैं कि हम हैं, और हम चाहते हैं कि हम रहे, ऐसी अवस्था में हम अपने स्थिति-रक्षा-संबंधी भावों को परमावस्था पर पहुँचाकर ही उस परमभावमय की भावना करेंगे। हम उसे धर्म्ममय, दयामय, प्रेममय मानेंगे और यह दया, यह धर्म्म, यह प्रेम उसी रूप का होगा जिस

रूप में उसका व्यवहार मनुष्यजाति में दिखाई पड़ता है—जिस रूप में मनुष्यजाति को उसकी आवश्यकता पड़ती है। अत्याचारी से पीड़ित होकर मनुष्य उसके कोप का आह्वान करता है, आपत्ति-ग्रस्त होकर उसकी दया का भिखारी होता है, सुख से संपन्न होकर उसके आश्रय की वांछा करता है। ये ही व्यवहार वह मनुष्यों के साथ भी करता है। अपने व्यवहार-पथ में आश्रय-प्राप्ति के निमित्त उसके लिये ईश्वर की स्वानुरूप भावना ही संभव है। स्वानुभूति द्वारा ही वह उस परमानुभूति की धारणा कर सकता है। इसी से भर्तृहरि ने "स्वानुभूत्येकमानाय" कहकर नमस्कार किया है। यदि चिन्मय में अपनी इतनी अनुभूति का भी निश्चय मनुष्य को न हो तो वह प्रार्थना आदि क्यों करने जाय? कुत्ते प्रार्थना क्यों नहीं करते? उनमें धर्म्म की प्रतिष्ठा नहीं है, अर्थात् वे चेतना की उस कोटि तक नहीं पहुँचे हैं, जिसमें समष्टिस्थिति की रक्षा से संबंध रखनेवाले भावों की स्थापना होती है। वे यह नहीं जानते कि दूसरे को काटने दौड़ने से कुक्कुर-समाज की उन्नति और वृद्धि नहीं हो सकती। समष्टि-रक्षा वा धर्म्म की ओर प्रवृत्त करनेवाली दया आदि उदात्त वृत्तियाँ उन्हें प्राप्त नहीं हैं। उनमें स्वार्थ का भाव है, परमार्थ का भाव नहीं है। 'धर्म्मो रक्षति रक्षित.' की धारणा उन्हें नहीं होती। जहाँ धर्म्मभाव है, वहीं ईश्वर की भावना है। जिन प्राणियों में जो भाव नहीं हैं उनमें उनकी चरितार्थता की आवश्यकता प्रकृति नहीं समझती।

भक्ति का स्थान मानव अंत:करण है, वहीं श्रद्धा और प्रेम के संयोग से उसका प्रादुर्भाव होता है। अतः मनुष्य की श्रद्धा के जो विषय ऊपर कहे जा चुके हैं उन्हीं को परमात्मा में अत्यंत विशद रूप में देखकर ही उसका मन खिचता है और वह उस विशद-रूप-विशिष्ट का सामीप्य चाहता है। उसके हृदय मे जो सौंदर्य्य का भाव है, जो धर्म्म का भाव है, जो उदारता का भाव है, जो शक्ति का भाव है, उसे वह अत्यंत पूर्ण रूप मे परमात्मा में देखता है और ऐसे पूर्ण पुरुष की भावना से उसका हृदय गद्गद हो जाता है और उसका धर्म्मपथ आनंद से जगमगा उठता है। धर्म्म वा व्यवहार-पथ में वह अपने मतलब भर की ईश्वरता से प्रयोजन रखता है। राम, कृष्ण आदि अवतारों में परमात्मा की विशेष कला देख उसके अंत:करण की सारी शुभ और आनंदमयी वृत्तियाँ उनकी ओर दौड़ पड़ती हैं; उसके प्रेम, श्रद्धा आदि का भारी अवलंब मिल जाता है; उसके सारे जीवन में एक अपूर्व माधुर्य्य और बल का संचार हो जाता है। उनके सामीप्य का आनंद लेने के लिये कभी वह उनके अलौकिक रूप-सौंदर्य्य की भावना करता है, कभी उनकी बाल-लीला के चिंतन से विनोद प्राप्त करता है, कभी धर्म्म-बल-पूर्ण उनके निर्मल चरित्र का गान करता है, कभी सिर झुकाकर वंदना करता है, यहाँ तक कि जब जी में आता है, प्रेम से भरा उलाहना भी देता है। यह प्रवृत्ति द्वारा अर्थात् आनंद अनुभव करते हुए धर्म्म की ओर अग्रसर होने का सुगम

मार्ग है। भक्ति मन वा हृदय से की जाती है। बुद्धि से भक्ति करना ऐसा ही है जैसा नाक से खाना और कान से सूँघना। निराकारवादी ईश्वर की भक्ति और विनय के भजन गाकर किस मानसिक क्रिया का अभिनय करते हैं, नहीं जानते। हमारे यहाँ भक्ति-विधान के अंतर्गत श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, सेवा, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन ये नौ बातें ली गई हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, कोरी श्रद्धा में आत्मनिवेदन या याचकता का भाव नहीं है। जब प्रेम के साथ उसका संयोग होता है, तभी इस भाव की प्राप्ति होती है। श्रद्धावान् श्रद्धेय पर अपने निमित्त किसी प्रकार का प्रभाव डालना नहीं चाहता, पर भक्त दाक्षिण्य चाहता है।

रामलीला, कृष्णलीला आदि सामीप्य-सिद्धि ही के विधान हैं। इस सामीप्य की कामना भक्तवर रसखान ने बड़ी मार्मिकता से इस प्रकार प्रकट की है—

मानुष हौं तो वही रसखान,
बसौं सँग गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बस मेरो,
चरौं मिलि नंद की धेनु मझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि को,
जो कियो हरि छत्र पुरंदर धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं,
मिलि कूल कलिंदी कदंब की डारन॥

रामलीला द्वारा लोग वर्ष में एक बार अपने पूज्य देव की आदर्श मानवलीला का माधुर्य्य देखते हैं। जिस समय दूर दूर के गाँवों के लोग एक मैदान में आकर इकट्ठे होते हैं तथा एक ओर जटामुकुटधारी विजयी राम-लक्ष्मण की मधुर मूर्त्ति देखते हैं और दूसरी ओर तीरों से विधा रावण का विशाल शरीर जलता देखते हैं, उस समय वे धर्म्म के सौंदर्य्य पर लुब्ध और अधर्म्म की घोरता पर क्षुब्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार जब हम कृष्णलीला मे जीवन की प्रफुल्लता के साथ धर्म्मरक्षा के अलौकिक बल का विकास देखते हैं, तब हमारा जीवन-धारण का अभिलाष दूना, चौगुना हो जाता है। हिंदू जाति इन्हीं की भक्ति के बल से इतनी प्रतिकूल अवस्थाओं के बीच अपना स्वतंत्र अस्तित्व बचाती चली आई है—इन्हीं की अद्भुत आकर्षण शक्ति से वह इधर-उधर ढलने नहीं पाई है। राम और कृष्ण को बिना आँसू बहाए छोड़ना हिंदू जाति के लिये सहज नहीं है, क्योंकि ये अवतार अलग टीले पर खड़े होकर उपदेश देनवाले नहीं थे, बल्कि मानव-जीवन में पूर्ण रूप से सम्मिलित होकर उसके एक एक अंश की मनोहरता दिखलानेवाले थे। मंगल के अवसरों पर उनके गीत गाए जाते हैं; विमाताओं की कुटिलता की, बड़ों के आदर की, दुष्टों के दमन की, जीवन के कष्ट की, घर की, वन की, संपद की, विपद की जहाँ चर्चा होती है वहाँ इनका स्मरण किया जाता है।

संसार से तटस्थ रहकर शांति-सुखपूर्वक लोक-व्यवहार-संबंधी उपदेश देनेवालों का उतना अधिक महत्त्व हिंदू धर्म्म में नहीं है, जितना संसार के भीतर घुसकर उसके व्यवहारों के बीच सात्त्विक संदर्भ की ज्योति जगानेवालों का है। हमारे यहाँ उपदेशक ईश्वर के अवतार नहीं माने गए हैं। अपने जीवन द्वारा कर्म्म-सौंदर्य्य संघटित करनेवाले ही अवतार कहे गए हैं। कर्म्म-सौंदर्य्य के योग से उनके व्यक्तित्व में इतना माधुर्य्य आ गया है कि हमारा हृदय आपसे आप उनकी ओर खिंचा पड़ता है। जो कुछ हम करते हैं—खेलना, कूदना, हँसना, बोलना, क्रोध करना, शोक करना, प्रेम करना, विनोद करना—इन सबमें सौंदर्य्य लाते हुए हम जिन्हें देखेंगे, उन्हीं की ओर ढल सकते हैं। वे हमें दूर से रास्ता दिखानेवाले नहीं हैं, आप रास्ते में चलकर हमें अपने पीछे लगाने क्या खींचनेवाले हैं। जो उनके व्यक्तित्व पर मोहित न हो वह निस्संदेह जड़ है।

सुनि सीतापति सील सुभाउ।
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल सो नर खेहर खाउ॥

जो उनका नाम सुनकर पुलकित होता है, जो उनके व्यक्तित्व पर मोहित होता है, उसके सुधरने की बहुत कुछ आशा हो सकती है। जो संसार या मनुष्यत्व का सर्वथा त्याग न कर दें, उनके लिये शुद्ध सात्त्विक जीवन का यही मार्ग है। रोगों के संपूर्ण दमन की अपेक्षा रोगों का परिष्कार

ज्यादा काम में आनेवाली बात है। निर्लिप्त रहकर दूसरों का गला काटनेवालों से लिप्त होकर दूसरों की भलाई करनेवाले लोककल्याण के विचार से कहीं अच्छे हैं।

जनता के संपूर्ण जीवन को स्पर्श करनेवाला क्षात्रधर्म्म है। क्षात्रधर्म्म के इसी व्यापकत्व के कारण हमारे मुख्य अवतार राम और कृष्ण क्षत्रिय हैं। क्षात्रधर्म ऐकांतिक नहीं है। उसका संबंध लोक-रक्षा से है। "कोई राजा होगा तो अपने घर का होगा" इससे बढ़कर झूठ बात शायद ही कोई और मिले। झूठे खिताबों के द्वारा यह कभी सच नहीं की जा सकती। कर्म्म-सौंदर्य्य की योजना जितने रूपों मे क्षात्रजीवन में संभव है, उतने रूपों में और किसी जीवन मे नहीं। शक्ति के साथ क्षमा, वैभव के साथ विनय, पराक्रम के साथ रूप-माधुर्य्य, तेज के साथ कोमलता, सुखभोग के साथ पर-दुःख-कातरता, प्रताप के साथ कठिन धर्म्म-पथ का अवलंबन, इत्यादि कर्म्म-सौंदर्य्य के इतने अधिक प्रकार के उत्कर्ष-योग और कहाँ घट सकते हैं? इसी से क्षात्रधर्म्म के सौंदर्य्य में जो मधुर आकर्षण है, वह अधिक व्यापक, अधिक मर्मस्पर्शी और अधिक स्पष्ट है। मनुष्य की संपूर्ण रागात्मिका वृत्तियों को उत्कर्ष पर ले जाने और विशुद्ध करने की सामर्थ्य उसमें है।

संसार में मनुष्य मात्र की समान वृत्ति कभी नहीं हो सकती। इस बात को भूलकर जो उपदेश दिए जाया करते हैं, वे पाषंड के अंतर्गत आते हैं। वृत्तियों की भिन्नता के बीच

से जो मार्ग निकल सकेगा वही लोकरक्षा का मार्ग होगा, वही धर्म्म का चलता हुआ मार्ग होगा। जिसमें शिष्टों के आदर, दीनों पर दया, दुष्टों के दमन आदि जीवन के अनेक रूपों का सौंदर्य्य दिखाई पड़ेगा, वही सर्वांगपूर्ण लोकधर्म्म का मार्ग होगा। क्षात्रधर्म्म-पालन की आवश्यकता संसार में सब दिन बनी रहेगी। कोई व्यापार-युग उसे नहीं हटा सकता। किसी अनाथ अबला पर अत्याचार करने पर एक क्रूर पिशाच को हम उद्यत देख रहे हैं। समझाना-बुझाना या तो व्यर्थ है, अथवा उसका समय ही नहीं है। ऐसी दशा में यदि उस अबला की रक्षा इष्ट है, तो हमें चटपट उस कर्म्म में प्रवृत्त होना होगा जिससे उस दुष्ट को बाधा पहुँचे। उस समय का हमारा क्रोध कितना सुंदर और अक्रोध कितना गर्हित होगा!

—रामचंद्र शुक्ल

---

(६) भाषातत्त्व

भाषाशास्त्र का विषय तीन भागों में बँटा हुआ है (१) भाषा की उत्पत्ति, (२) अनेक भाषाओं का परस्पर संबंध और भाषाओं का वर्गीकरण, (३) भाषा में परिवर्त्तन। भारतवर्ष की मुख्य भाषा संप्रति हिंदी है, इसलिये इस व्याख्यान में प्रायः हिंदी ही से उदाहरण लेकर भाषाशास्त्रीय तत्त्व दिखलाए गए हैं।

(१) भाषा की उत्पत्ति के विषय में अनेक मत हैं। कुछ लोग तो कहते हैं कि मनुष्य के पूर्व पुरुषों को ईश्वर ने भाषा सिखाई।

(२) कुछ कहते हैं कि सुख दुःख आदि में मनुष्य स्वभावतः कुछ आह, ऊह, अहा, ओहो आदि शब्द निकालते हैं। ऐसे ही चलने की खड़खड़ाहट, गाड़ी की गड़गड़ाहट, ताड़ आदि के पत्तों की फड़फड़ाहट आदि विविध शब्दों का आविर्भाव प्राकृतिक पदार्थों से हुआ करता है। बस इन्हीं दो मूलों से मनुष्य ने धीरे धीरे सब शब्द बना लिए। जैसे किसी पक्षी को काँव काँव करते देख उसे लोग कौवा कहने लगे। ऐसे ही गड़गड़ाती हुई सवारी को गाड़ी और सरसर चलते हुए जंतु को सर्प कहने लगे। यों ही किल्लाना, चिल्लाना,

खाँसना, किकियाना, मिमियाना आदि क्रियाओं का भी निर्माण हो गया। यह अमेरिका के प्रसिद्ध डाक्टर ह्विट्नी का मत है।

(३) कुछ नीतिज्ञ पुरुषों ने एक तीसरा ही कारण भाषा के उद्भव का निकाला है। वे कहते हैं कि किसी समय मौन रहने से काम न चलता देख जब मनुष्य बहुत ऊब गए और हाथ-पैर, आँख-भौं के इशारों से भी अपने आशय को न प्रकट कर सके, तब उन्होंने एक बड़ी सभा की और उस महासभा या महामंडल में उस समय के जो बुद्धिमान् और नई रोशनी-वाले थे, उन्होंने एक भाषा स्थिर करने का प्रस्ताव किया और सबकी सम्मति से सैकड़ों शब्द स्थिर हुए। मालूम होता है कि इस सभा में केवल मनुष्य ही नहीं किंतु पशु, पक्षी, जड़, चेतन सभी इकट्ठे किए गए थे। कार्य आरंभ होने के समय मूक-मंडल में बड़ी चूँ चूँ, हूँ हूँ, खूँ खूँ मची। अंततः किसी ने एक बैल को पकड़कर कहा 'बइल्ला'। बस सभी चिल्ला उठे 'बइल्ला' और निश्चित हुआ कि इस जंतु को 'बइल्ला' कहना। ऐसे ही अनेक शब्द स्थिर हुए। गाय, भैंस, घोड़े, कुत्ते, जौ, गेहूँ, लोटे, थाली आदि के नाम निश्चित हुए। सभा के पति, उपपति, संपादक आदि नियत हुए और उस दिन से मूक-महामंडल के अनेक उपदेशक घूम घूमकर व्याख्यान की पताका उड़ाते हुए स्थान स्थान पर सभा के उद्देश्यों का प्रचार करने लगे।

(४) किंतु पूर्वोक्त तीनों मतों से असंतुष्ट होकर कितने विद्वानों ने एक चतुर्थ मत प्रकाशित किया है जिसके अनुसार ईश्वर की दी हुई एक मनुष्य में अपूर्व विभाविक शक्ति है जिससे मनुष्य स्वभावतः शब्द बना लेता है। पूर्वोक्त मतों से असंतोष का कारण यह है कि पहले मत में यह बात आश्चर्य्य की है कि यदि मनुष्य को ईश्वर से मिलने के समय भाषा-ज्ञान न था तो ईश्वर से उससे बातचीत कैसे हुई। कोई व्याकरण या कोष, जिसके द्वारा ईश्वर ने पुरुष को भाषा सिखाई होगी, अवश्य उसके ज्ञान के लिये भी अपेक्षित है। दूसरे मत में एक बड़ा दोष यह है कि अनुकरण की रीति से दस या बीस शब्द तो भले ही निकल सकते हैं, पर संपूर्ण भाषा को अनुकरण-मूलक कहना असंगत सा जान पड़ता है। यदि गाय को लड़कों का सा 'बॉय' कहा जाता तो ठीक था; किंतु 'गाय' यह शब्द अनुकरण की रीति से कदापि नहीं निकल सकता। इसी प्रकार मूक-महामंडलवाली बात भी ठीक नहीं मालूम होती; क्योंकि मूकों में भाषाज्ञान जब था ही नहीं, तब सभा में बातचीत कैसे हुई? किस वस्तु को क्या कहना, यह सब कैसे निश्चित हुआ? इस प्रकार यह विदित होता है कि चतुर्थ मत ही, जिसका मैक्सम्यूलर ने भी आश्रय लिया है, ठीक है। अस्तु। भाषा की उत्पत्ति का विचार यदि इस प्रकार समाप्त किया जाय तो दूसरा प्रश्न यह उठता है कि पहले पहल क्या कोई एक ही भाषा संसार में हुई और उससे अनेक भाषाएँ

जहाँ तहाँ देश-काल, जल-वायु, मनुष्यों के आचार-व्यवहार आदि के भेद से भिन्न हुईं या प्रथम अनेक स्थानों में भिन्न भिन्न ही भाषाएँ हुईं और अनेक नदियों के सदृश कभी मिलती, कभी पृथक् होती हुई आज भी अनेक ही हैं। यह प्रश्न गंभीर है और इसका समाधान कठिन है; क्योंकि इस प्रश्न का विचार केवल भाषाशास्त्र के अधीन नहीं है, भूगर्भशास्त्र और मनुष्य-शास्त्र (Geology and Anthropology) से भी इसका संबंध है। प्रथम यदि इस बात का निश्चय हो ले कि एक कुटुंब से सारी पृथ्वी के मनुष्य निकले हैं या अनेक कुटुंबों से, तब इसका भी निश्चय हो सकता है कि सब भाषाओं का मूल एक था या अनेक। भाषाशास्त्र के परिशीलन से यह ज्ञात होता है कि यदि अरबी, संस्कृत, लैटिन, ग्रीक आदि सब भाषाएँ अपनी धातु अवस्था में पहुँचा दी जायँ तो भी भिन्न भिन्न वर्ग की भाषाओं के धातुओं में इतना अंतर पाया जाता है कि अनेक वर्गों के अनेक मूल थे, ऐसा ही कहना पड़ता है। मनुष्य-शास्त्र से और भूगर्भ-विद्या से यह ज्ञात होता है कि एक ही समय पृथ्वी पर बहुत जगहों में मनुष्य वर्त्तमान थे। ऐसा अभी तक नहीं पाया गया है कि पृथ्वी की किसी एक ही तह में एक ही जगह थोड़े से मनुष्य थे, और कहीं मनुष्य थे ही नहीं। इन बातों से यह विदित होता है कि इस समय जैसी भाषा-शास्त्र, भूगर्भ-शास्त्र आदि की अवस्था है, वैसी अवस्था में भाषा का मूल एक था या अनेक, इसका निश्चय नहीं हो सकता।

भाषाशास्त्र का दूसरा विभाग अनेक भाषाओं का परस्पर संबंध और वर्गीकरण है। पहले तो यह विदित होता है कि भाषाओं का वर्गीकरण बहुत ही सहज है; क्योंकि चीन वर्ग की जो भाषाएँ हैं उनके साथ भला हिंदी का क्या संबंध हो सकता है ? पर वस्तुतः यह कार्य अत्यंत कठिन है। कभी कभी राज्य विजय आदि के कारण प्रायः एक देश के शब्द अनेक देशों में फैल जाते हैं। जैसे कि भारतीय उर्दू में इतने फारसी शब्द हैं कि यह कहना कठिन हो जाता है कि उर्दू फारसी वर्ग में है या संस्कृत वर्ग में। इसी प्रकार एक ही देश मे पहाड़, नदी आदि के अलंघनीय होने के कारण अथवा भाषाओं के प्रयोग करनेवालों की जाति, प्रकृति आदि अत्यंत भिन्न होने के कारण परस्पर भाषाओं में इतना भेद पाया जाता है कि अत्यंत समीपवासी दो जातियों की भाषाएँ वस्तुतः भिन्न वर्ग की समझी जाती हैं। जैसे कि उड़ीसा के निवासियों की भाषा संस्कृत वर्ग की है, पर उनके पश्चिम मद्रास प्रांतवालों की भाषा द्रविड़ वर्ग की है। ऐसी अवस्था में वर्ग निश्चय कैसे करना और सामान्यतः कितने वर्ग और अंतर्वर्ग हैं, यह यहाँ संक्षेप मे दिखाया जाता है।

भाषा का मुख्य रूप शब्द नहीं है किंतु उसकी रचना है। अर्थात् एक भाषा के शब्द दूसरी भाषा में आसानी से जा सकते हैं, पर भिन्न भाषाओं के व्याकरण की रचना प्रायः भिन्न होती है। उदाहरण, एक पंडितजी कहते हैं कि "मुझे

वाष्प शकट के विश्राम-स्थान पर प्रस्थान करना है"। एक बंगाली बाबू कहते हैं कि "हम रेलवे स्टेशन के वास्ते स्टार्ट करने माँगता है"। एक बेचारा गँवइयाँ कहता है कि "हमरा रेलवई इस्टोसन पर जाय के बाटे"। एक चौथे शहरू मुसल्मान फरमाते हैं कि "मुझको रेल के स्टेशन पर जाना है"। मैं समझता हूँ किसी को संदेह नहीं होगा कि ये चारों साहब अपने अपने ढंग से हिंदी ही बोल रहे हैं, क्योंकि शब्द चाहे अँगरेजी के या फारसी के या संस्कृत के हों, जब तक टूटो फूटी किसी प्रकार की रचना हिंदी की रहेगी तब तक भाषा हिंदी ही समझी जायगी। अब इसी नियम के अनुसार अर्थात् व्याकरण की रचना के अनुसार यदि वर्ग बनाए जायँ तो आर्य, अरबी, तुर्की, द्रविड़, चीनी और स्कांडनेव ये छः वर्ग होते हैं। ये मुख्य वर्ग हैं। इनके अतिरिक्त भी कुछ भाषाएँ हैं जिनका ठीक वर्गीकरण नहीं हो सका है। प्राय: उत्तर भारत की सब भाषाओं को मिलाकर एक शाखा आर्य भाषा की समझनी चाहिए। इसकी दूसरी शाखा पारसी और अवेस्ता की भाषा है। तीसरी शाखा लैटिन और ग्रीक है। चौथी शाखा अँगरेजी जर्मन आदि। पाँचवीं शाखा केल्टिक और छठो रूस की भाषा आदि। इस रीति से ज्ञात होता है कि हिंदी भाषा आर्य भाषा की एक शाखा है।

इस प्रकार भाषावर्गों का कुछ विचार कर अब भाषाओं की अवस्थाओं का विचार करना है। सामान्यत: प्रत्येक भाषा

की चार अवस्थाएँ होती हैं; किंतु इन चारों अवस्थाओं में इतना अंतर है कि एक अवस्था से दूसरी अवस्था में पहुँचने तक सैकड़ों हजारों वर्ष लग जाते हैं। देश बदल जाता है, भाषाओं के नाम बदल जाते हैं, प्राचीन अवस्था नवीन दशा के आविर्भाव तक सर्वथा लुप्त हो जाती है, इसलिये एक ही भाषा को चारों अवस्थाओं में पाना दुर्घट है। पर अनेक भाषाओं को परस्पर भिन्न अवस्था में देखकर उनका तारतम्य करने से इन अवस्थाओं का वर्णन किया जा सकता है। (१) धातु अवस्था (२) समास अवस्था (३) प्रत्यय अवस्था (४) उपसर्ग अवस्था। चीन की भाषा संप्रति धातु अवस्था मे है। शब्दों में प्रत्यय विभक्तियाँ आदि नहीं लगतीं, शब्द परस्पर मिलते नहीं, सब शब्द पृथक् पृथक् रख दिए जाते हैं और एक वाक्य बन जाता है। यदि 'मनुष्य आम खाता है' यह कहना होगा तो वे लोग 'मनुष्य' 'आम' 'खा' तीनों शब्दों के लिये चीनी शब्द कहेंगे। मनुष्य का बहुवचन करना होगा तो 'मनुष्य' 'झुंड' इन दोनों शब्दों के लिये अपने शब्द कहेंगे। अभी तक हिंदी में भी कभी कभी ऐसा होता है। जैसे मनुष्य का बहुवचन बनाने के लिये प्रत्यय न रखकर 'मनुष्य लोग' 'मनुष्य गण' कह देते हैं। दूसरी समास अवस्था में मेक्सिको आदि की भाषाएँ हैं। 'आदमी घर में आम धीरे धीरे खाता है' ऐसा जब इन लोगों को कहना होता है, तब ये लोग दस हाथ का समस्त एक शब्द कहते हैं। हिंदी मे इस समासावस्था का उदाहरण

'इस बारात में खूब खा-पी-धर-मार-गड़बड़-सड़बड़ हुआ'। इस पद में बहुत से शब्द एक साथ मिला दिए गए हैं। इन दोनों अवस्थाओं के बाद तीसरी प्रत्यय अवस्था आती है। 'खायँ वे' यह प्रायः धातु अवस्था हुई। दोनों को लोग मिलाकर बोलने लगे तब 'खायँ + वे' यह समासावस्था हुई। जब दोनों शब्द ऐसे मिल गए कि एक अंश घिसते घिसते बहुत दुर्बल हो गया, तब 'खावे' यह एक शब्द हो गया, जिसमें 'खा' धातु में 'वे' प्रत्यय माना जाता है। इसी प्रकार सब प्रत्यय किसी न किसी स्वतंत्र शब्द से निकलते हैं। यहाँ 'वें' शब्द पहले तो समस्त हुआ, पर धीरे धीरे घिसकर अपना स्वतंत्र रूप खो बैठा और प्रत्यय हो गया। इस तीसरी अवस्था का प्रधान उदाहरण संस्कृत है जिसमें बहुत से प्रत्यय हैं। चौथी अवस्था उपसर्ग अवस्था है जिसमें प्रत्यय अलग होकर फिर स्वतंत्र हो जाते हैं, जैसा हिंदी या अँगरेजी में है। इन भाषाओं मे प्रत्यय कम हो गये हैं, क्योंकि बहुत से शब्द, जो संबंधवाचक हैं, स्वतंत्र अव्यय रूप से रहते हैं। Of man, in the house, from him इत्यादि अँगरेजी शब्दों में अव्यय पहले लगे हैं। हिंदी में अव्यय पीछे लगते हैं जैसे 'घर में' 'उसका' इत्यादि।

भाषा में परिवर्तन हो जाया करता है, यह तो सबको विदित है। अब यह परिवर्तन प्रायः किन कारणों से होता है, इसका कुछ विचार होना चाहिए। इतने मुख्य कारण भाषा

में परिवर्तन के पाए जाते हैं—(१) देश, (२) आलस्य, (३) धर्म, (४) व्यक्ति-स्वभाव, (५) संपर्क, (६) कविता।

देश के भेद से एक ही भाषा भिन्न भिन्न रूपों की हो जाती है, इसमें किसी को संदेह नहीं है। पक्की हिंदी में 'आप जाते हैं' और पच्छिम में 'आप जाते हो' कहते हैं। विहार में 'रौआँ जातॉनी', काशी में 'तू जात हौअः' या 'जात वाटः' कहते हैं। एक ही शब्द भैया, भयवा, भाई, भाय आदि रूप को धारण करता है। एक ही शब्द गौ, गाय, गैया आदि हो जाता है। देश देश का स्वभाव कुछ भिन्न होता है। जल-वायु आदि के भेद के कारण एक अक्षर जो एक देश में सीधा समझा जाता है, दूसरे देश मे कठिन समझा जाता है। हमारे देश में ळ एक सीधा अक्षर है; पर महाराष्ट्र लोग उसे प्रायः ड़ कहते हैं। जापान के एक विद्यार्थी हमसे पढ़ते थे। उनका यह कथन था कि ल अक्षर से बढ़कर और कोई कठिन अक्षर है ही नहीं। और ल को वे अर्ड कहा करते थे।

अँगरेज लोग भीम को वीम, पंडित को फँडिट आदि कहा करते हैं। और र अक्षर का प्रायः ठीक उच्चारण नहीं कर सकते। चीन के लोग क्राइस्ट को किली सेत्तू और बुद्ध को फ़ोतो कहते हैं। यहाँ के गँवार लोग प्रामिसरी नोट को पर-मेश्वरी लोट और लाइब्रेरी को लर्वेरि या राय बरेली कहा करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक देश के भिन्न भिन्न दोष गुण हैं जिनके अनुसार भाषा में परिवर्तन हुआ करता है। संस्कृत लक्षण

और लक्ष्मी को बंगाली लोग लक्खन और लक्खी कहते हैं। हिंदी में लछिमन या लखन (तुलसीदास) और लछिमी कहते हैं। परिवर्तन का दूसरा कारण आलस्य कहा गया है। कोई शब्द जब अत्यंत कठिन मालूम होता है तब प्रायः मनुष्य उसको बदलने लगते हैं। कज्जल इतना कठिन है कि उसे बदलकर लोगों ने काजल या काजर कर लिया है। कृष्ण से प्राकृतिक कण्हो हुआ। कण्हो से कान्हा कान्ह कन्हैया आदि हो गया। ऐसे ही श्वशुर का ससुर, श्वश्रू का सास, ननांदा का ननद इत्यादि। खास हिंदी शब्दों में प्रायः इतने नियम पाए जाते हैं।* तालव्य श और मूर्धन्य ष हिंदी के शब्दों में नहीं हैं। संस्कृतज्ञ लोग ही संस्कृत के शब्दों में इन अक्षरों को लिखते और बोलते हैं। इससे हिंदी में इन अक्षरों का दंत्य स हो जाता है। श्रीकृष्ण सिरी किसुन, श्याम साम, इत्यादि। कहीं कहीं आदि में मूर्द्धन्य ष का छ हो जाता है जैसे षष्ठी का छठ, षष्ठ का छठा। ड और ढ का ड़ और ढ़ हो जाता है। आषाढ़ आषाढ के लिये, खड़गपुर खड्गपुर के लिये। किंतु आदि में ड और ढ मिलते हैं जैसे डाकू, ढकना इत्यादि। ह्रस्व इ और उ प्रायः शब्द के अंत में दीर्घ से हो जाते हैं, जैसे मुनी लोग, साधू आदमी। ऋ प्रायः ई रि हो जाता है, जैसे कृति कीरित। कहीं ऋ का इ हो जाता है जैसे कृष्ण का किसुन। लृ तो संस्कृत मे भी एक ही आध

---

* ये नियम शुद्ध हिंदी शब्दों के लिये हैं। संस्कृत आदि से जो शब्द प्रतिदिन मँगनी लिए जाते हैं, उनके लिये नहीं।

जगह मिलता है, हिंदी में कौन पूछे। ए औ का उच्चारण पच्छिमी हिंदी में अय अव का सा होता है, जैसे कैान है, ऐसा है। ए ओ हिंदी कविता में ह्रस्व भी होते हैं 'केहि कारन सोहि मारि कै'। विसर्ग हिंदी में नहीं होता। आदि में प्राय: य को ज कहा जाता है 'यज्ञ का जग'। पर कहीं पर य भी बोला जाता है जैसे 'या, याने, यहाँ', इत्यादि। व प्राय: ब हो जाता है; पर कहीं व भी बोला जाता है 'वन, वहाँ'। ञ ण ये दोनों अक्षर हिंदी में नहीं मिलते। ङ बहुत कम पाया जाता है जैसे कि 'अङरखा। पर यह भी यदि अँगरखा लिखा जाय तो ऐसे शब्दों में भी ङ की स्थिति लुप्त-प्राय ही है। संयुक्ताक्षर हिंदी मे बहुत कम हैं जैसे क्यों, क्या, अच्छा, पक्का, कच्चा इत्यादि। भाषांतर के शब्द हिंदी में आने पर प्राय: अपने संयुक्त अक्षरों मे से एक को खो बैठते हैं, या दोनों अक्षर अलग हो जाते हैं या दोनों मिल-कर* एक तीसरा ही अक्षर हो जाता है। उदाहरण, प्रयाण का पयान हो जाता है। यहाँ र का लोप हो गया। स्नान का असनान† हो जाता है। यहाँ स और न पृथक् हो गए हैं। लक्ष्मण का लखन हो जाता है। यहाँ क्ष का ख

* उदाहरण के लिये दोनों कहा गया है। वस्तुतः तीन चार अक्षर भो मिल सकते है।

† ऐसे शब्दों में पहिले अ इ आदि भी लग जाता है। असनान, इसटीसन इत्यादि।

एक और ही अक्षर हो गया है। ऐसे हो और भी बहुत से परिवर्तन के नियम हैं। परिवर्तन का तीसरा कारण धर्म है। कई प्रकार के धर्म संबंधी झूठे वा सच्चे नियम यानी शास्त्र-विहित अथवा भ्रम द्वारा गृहीत प्राय: मनुष्यों के हृदय में जमे रहते हैं। जैसे जिन्हें जिस शब्द के उच्चारण से घृणा है, वे उस शब्द को कुछ और कहने लगते हैं। उनके द्वारा कुटुंब में, कुटुब के द्वारा देश भर में ऐसे परिवर्तित शब्द कभी कभी फैल जाते हैं। स्त्री पति का नाम नहीं लेती, पति स्त्री का नाम नहीं लेता। ऐसे ही अत्यंत शठों का, पतितों का, गुरु का या खाने पीने की चीजों में निषिद्ध वस्तुओं का नाम लोग नहीं लेते। पश्चिमोत्तर में कितने लोग गोभो नहीं खाते, क्योंकि इसमें गो शब्द पड़ा है। बिहार के अगरवाले लोग गोभी कहने से बहुत ही चिढ़ते हैं और कोबी कहने से मजे में उसे खाते हैं। किसी के गुरु का नाम सतुआदास हो तो वह सतुआ कभी नहीं कहेगा, सीतल बुकनी कहा करेगा। बस चलो, सीतल बुकनी धीरे धीरे चल निकला। परिवर्तन का चौथा कारण व्यक्तिस्वभाव है। कितने भगत लोग पाँव लागें, पाँय लागे इत्यादि अशुद्ध शब्दों को छोड़कर जय श्रीकृष्ण, जय गोपाल, भगतजी राम राम इत्यादि पवित्र वाक्यों का प्रणाम में प्रयोग करते हैं। उनमें भी कितने सीताराम से चिढ़ते हैं, कितने राधाकृष्ण से और इन नामों को कभी नहीं कहते। ऐसे ही कितने शब्दों का प्रयोग लुप्त हो जाता है और

कितने नए शब्द उत्पन्न हो जाते हैं। परिवर्तन का पाँचवाँ कारण संपर्क है। जिनका संस्कृत भाषा से संबंध है या संस्कृतज्ञों से अधिक संपर्क है, उनकी हिंदी संस्कृत शब्दों से भरी हुई होती है। यहाँ तक कि महामहोपाध्याय लोग और उनके मैथिल शिष्य लोग गलियों में सामान्य पुरुषों से बातचीत करने में अवच्छेदकता, प्रकारता, विषयता, प्रतियोगिता आदि का प्रयोग करने लगते हैं। ऐसे ही अँगरेजीवालों की हिंदी और खासकर अँगरेजों की हिंदी कुछ अपूर्व ही होती है। अँगरेजों को पेशाब करने की इच्छा होती है तो चपरासी से कहते हैं कि हम पानी बनाने माँगता है; और घोडी के बदले कोई घोड़ा लावे तो कहते हैं 'हम शा घोड़ा मत लावो' 'मेम साहेब का शा घोड़ा लावो' यानी घोड़ी लाओ। मुसलमान, कायस्थ आदि लोगों की हिंदी मगरूर, मुलाहिजा, मुमानियत, मुमकिन, दौलतखाना, गरीबखाना, फर्माना, आदि शब्दों से भरी हुई होती है। साधु लोगों की हिंदी डोलडाल, छोरा, अष्टान्न, दुर्गंध* आदि शब्दों से भरी हुई होती है। भाषा-परिवर्तन का छठा कारण कविता है। शब्दों के बहुत से नए रूप अवधी या व्रजभाषा के व्याकरण के देशांतरीय कविता मे प्रचार आदि के कारण हुए हैं। तुलसीदास लिखते हैं 'हँसब ठठाइ फुलाउब गालू। एक संग नहि होइ भुआलू' यहाँ भुआलू है।

---

* वैरागियों की भाषा में अष्टान्न का अर्थ मिष्टान्न याने मिठाई है। दुर्गंध कहते हैं दुग्ध याने दूध को।

कहीं तुक मिलाने के लिए भुश्राला रहता है, कहीं भुश्राली मिलता है। इसको देखकर किसी ने अपने लड़के का नाम भुश्रालदास रख लिया। किसी ने भुश्राल का अर्थ बेवकूफ समझ लिया; और जब कोई बेवकूफी का काम करता है तब वह कहता है "बड़ भुश्राल बाड़: हो"। ऐसे ही अनेक प्रकार की बोली बानी कबीर की, सूर की, नानक की, संन्यासियों की निकली है। यह व्याख्यान बालकों के समक्ष है। इसलिये कठिन गंभीर बहुत से भाषा-शास्त्र के नियम छोड़ दिए गए हैं।

—रामावतार पांडेय

---

(७) लज्जा और ग्लानि

हम जिन लोगों के बीच रहते हैं, अपने विषय में उनकी धारणा का जितना ही अधिक ध्यान रखते हैं उतना ही अधिक प्रतिबंध अपने आचरण पर रखते हैं। जो हमारी बुराई, मूर्खता या तुच्छता के प्रमाण पा चुके रहते हैं उनके सामने हम उसी धड़ाके के साथ नहीं जाते हैं जिस धड़ाके के साथ औरों के सामने जाते हैं। यहीं तक नहीं, जिन्हें इस प्रकार का कोई प्रमाण नहीं भी मिला रहता है उनके आगे भी कोई काम करते हुए यह सोचकर कुछ आगा पीछा होता है कि कहीं इस प्रकार का प्रमाण उन्हें मिल न रहा हो। दूसरों के चित्त में अपने विषय मे बुरी या तुच्छ धारणा होने के निश्चित होने या आशंका मात्र से वृत्तियों का जो संकोच होता है— उनकी स्वच्छंदता के विघात का जो अनुभव होता है—उसे लज्जा कहते हैं। इस मनोवेग के मारे लोग सिर ऊँचा नहीं करते, मुँह नहीं दिखाते, सामने नहीं आते, साफ साफ कहते नहीं और भी न जाने क्या क्या नहीं करते। 'हम बुरे न समझे जायँ' यह स्थायी भाव जिसमें जितना ही अधिक होगा वह उतना ही लज्जाशील होगा। कोई बुरा कहे चाहे भला इसकी परवा न करके जो काम किया करते हैं वेही निर्लज्ज कहलाते हैं।

जिस समाज में हम कोई बुराई करते हैं, जिस समाज में हम अपनी मूर्खता धृष्टता आदि का प्रमाण दे चुके रहते हैं उसके अंग होने का स्वत्व हम जता नहीं सकते, अतः उसके सामने अपनी सजीवता के लक्षणों को उपस्थित करते या रखते नहीं बनता—यह प्रकट करते नहीं बनता कि हम भी इस संसार में हैं। जिसके साथ हमने कोई बुराई की होती है उसे देखते ही हमारी क्या दशा होती है ? हमारी चेष्टाएँ मंद पड़ जाती हैं, हमारे ऊपर घड़ों पानी पड़ जाता है, हम गड़ जाते हैं या चाहते हैं कि धरती फट जाती और हम उसमें समा जाते। सारांश यह कि यदि हम कुछ देर के लिये मर नहीं जाते तो कम से कम अपने जीने के प्रमाण अवश्य समेट लेते हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया उससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि लज्जा का कारण अपनी बुराई, त्रुटि या दोष का हमारा अपना निश्चय नहीं, दूसरे के निश्चय का निश्चय वा अनुमान है, जो हम बिना किसी प्रकार का प्रमाण पाए केवल अपने आचरण वा अवस्था विशेष पर दृष्टि रखकर ही कभी कभी कर लिया करते हैं। हम अपने को दोषी समझें यह आवश्यक नहीं, दूसरा हमें दोषी या बुरा समझे यह भी आवश्यक नहीं, आवश्यक है हमारा यह समझना कि दूसरा हमें दोषी वा बुरा समझता है या समझता होगा। जो आचरण लोगों को बुरा लगा करता है, जिस अवस्था का लोग उपहास किया करते हैं, जिस बात से लोग घृणा किया करते हैं यदि हम

समझते हैं कि लोगों के देखने मे वह आचरण हमसे हो गया, उस अवस्था में हम पड़ गए या वह बात हमसे बन पड़ी तो हम लज्जित होने के लिये इसका आसरा न देखेंगे कि जिन लोगों के सामने ऐसी बात हुई है वे निंदा करें, उपहास करें या छिः छिः करें। वे निंदा करे या न करें, उपहास करें या न करें, घृणा प्रकट करे या न करें पर हम समझते हैं कि सामग्री उनके पास है वे इसका उपयोग करें करे, न करे। यह अवश्य है कि उपयोग होने पर हमारी लज्जा का वेग या भार बहुत बढ़ जाता है पर कभी कभी इसका उलटा भी होता है। जिसके साथ हमने कोई भारी बुराई की होती है यदि दस आदमियों के सामने मिलने पर वह मौन रहे, हमारा गुणानुवाद करने लगे, हमसे प्रेम जताने लगे या हमारा उपकार करने चले तो शायद हम अपने डूबने के लिए चुल्लू भर पानी ढूँढ़ने लगेंगे। वन से लौटने पर रामचद्रजी कैकेयी से मिले और "रामहि मिलत केकई हृदय बहुत सकुचानि।" पर जब लक्ष्मण "कैकइ कहँ पुनि पुनि मिले" तब तो वह लज्जा से धँस गई होगी। चित्रकूट में जब राम पहले कैकेयी से ही मिले होंगे तब उसकी क्या दशा हुई होगी?

निंदा का भय लज्जा नहीं है। भय है, पर कई बातों का जिनमे लज्जा भी एक है। हमे निंदा का भय है, इसका मतलब है कि हमे उसके परिणामों का भय है—अपने कुढ़ने, दुखी होने, लज्जित होने, हानि सहने इत्यादि का भय है।

विशुद्ध लज्जा अपने विषय में दूसरे की ही भावना पर दृष्टि रखने से होती है। अपनी बुराई, मूर्खता, तुच्छता इत्यादि का एकांत अनुभव करने से वृत्तियों मे जो शैथिल्य आता है उसे 'ग्लानि' कहते हैं। इसे अधिकतर उन लोगों को भोगना पड़ता है जिनका अंतःकरण सत्त्वप्रधान होता है, जिनके संस्कार सात्त्विक होते हैं, जिनके भाव कोमल और उदार होते हैं। जिनका हृदय कठोर होता है, जिनकी वृत्ति क्रूर होती है, जो सिर से पैर तक स्वार्थ में निमग्न होते हैं उन्हें सहने के लिये संसार में इतनी बाधाएँ, इतनी कठिनाइयाँ, इतने कष्ट होते हैं कि ऊपर से और इसकी भी न इतनी जरूरत रहती है न जगह। मन मे ग्लानि आने के लिये यह आवश्यक नहीं कि जो हमारी बुराई, मूर्खता, तुच्छता आदि से परिचित हों, या परिचित समझे जाते हों उनका सामना हो। हम अपना मुँह न दिखाकर लज्जा से बच सकते हैं पर ग्लानि से नहीं। कोठरी में बंद, चारपाई पर पड़े पड़े, लिहाफ के नीचे भी लोग ग्लानि से गल सकते हैं। चित्रकूट में भरत-राम के मिलाप के स्थान पर जब जनक के आने का समाचार पहुँचा तब "सुनत जनक-आगमन सब हरखेउ अवध समाज।" पर "गरइ गलानि कुटिल कैकेई।"

ग्लानि में अपनी बुराई, मूर्खता, तुच्छता आदि के अनुभव से जो संताप होता है वह अकेले में भी होता है और दस आदमियों के सामने भी प्रकट किया जाता है। ग्लानि अंतः-

करण की शुद्धि का एक विधान है, इससे उसके उद्धार में अपने दोष, अपराध, तुच्छता, बुराई इत्यादि का लोग दुःख से या सुख से कथन भी करते हैं--उसमें दुराव या छिपाव की प्रवृत्ति नहीं रहती। अपने दोष का अनुभव, अपने अपराध का स्वीकार, आंतरिक अस्वस्थता का उपचार तथा सच्चे सुधार का द्वार है। 'हम बुरे हैं' जब तक हम यह न समझेंगे तब तक अच्छे नहीं हो सकते, 'हम बुरे हैं' दूसरों के कान में पड़ते ही इसका अर्थ उलट जाता है। दूसरों को हम अच्छे नहीं लगते यह समझकर हम लज्जित होते हैं अतः औरों को अच्छी न लगनेवाली बातों को केवल उन्हीं की दृष्टि से दूर रखकर ही बहुत से लोग न लज्जित होते हैं, न निर्लज्ज कहलाते हैं। दूसरों के हृदय मे अज्ञान की प्रतिष्ठा करके वे उसकी शरण में जाते हैं। पर अज्ञान, चाहे अपना हो चाहे पराया, सब दिन रक्षा नहीं कर सकता। बलि-पशु होकर ही हम उसके आश्रय में पलते हैं। जीवन के किसी अंग की यदि वह रक्षा करता है तो सर्वांगभक्षण के लिये। अज्ञान अंधकार-स्वरूप है। दीया बुझाकर भागनेवाला यदि समझता है कि दूसरे उसे देख नहीं सकते तो उसे यह भी समझ रखना चाहिए कि वह ठोकर खाकर गिर भी सकता है।

कोई बात ऐसी है जिससे हम दूसरों को अच्छे नहीं लगते हैं यह जानकर अपने को, और अच्छे न लगेंगे यह समझकर उस बात को थोड़े बहुत यत्न से उनके दृष्टि-पथ से दूर

करके भी जब हम समय पर अपना बचाव कर सकते हैं, यही नहीं, अपने व्यवधान-कौशल पर विश्वास कर सदा बचते चले जाने की आशा तक—चाहे वह झूठो ही क्यों न हो—कर सकते हैं, तब हमारा केवल यह जानना या समझना सदा सुधार की इच्छा ही उत्पन्न करेगा कैसे कहा जा सकता है। दूसरों का भय हमें भगा सकता है, हमारी बुराइयों को नहीं। दूसरों से हम भाग सकते हैं पर अपने से नहीं। जब अपने को हम अच्छे न लगेंगे तब सिवा इसके कि हम अच्छे हों या अच्छे होने की आशा करे आत्मग्लानि से बचने का और कोई उपाय न रहेगा। पर जिनके अंत:करण मे अच्छे संस्कारों का बीज रहता है ग्लानि उन्हीं को होती है।

संकल्प या प्रवृत्ति हो जाने पर बुराई से बचानेवाले तीन मनोवेग हैं—सात्विक वृत्तिवालों के लिये ग्लानि, राजसी वृत्तिवालों के लिये लज्जा और तामसी वृत्तिवालों के लिये भय। जिन्हें अपने किए पर ग्लानि नहीं हो सकती वे लोकलज्जा से, जिनमे लोकलज्जा का लेश नहीं रहता वे भय से बहुत से कामों को करते हुए हिचकते हैं। बहुत से लोग इच्छा रखते हुए भी बुरे काम लज्जा के मारे नहीं करते। पर लज्जा का अनुभव एक प्रकार के दु:ख का ही अनुभव है, अत: यह नहीं कहा जा सकता कि कर्म न करने पर भी अपनी इच्छा मानकर उन्हें यह दु:ख होता है क्योंकि यदि ऐसा होता तो वे इच्छा रखते ही क्यों? सच पूछिए तो उन्हें उस दु:ख की आशंका

मात्र रहती है जो लोगों के धिक्कार, बुरी धारणा आदि से उन्हें होगा। लज्जा का अनुभव तो तभी होगा जब वे कुकर्म की ओर इतने अग्रसर हो चुके रहेंगे कि यह समझ सकें कि लोगों के मन में बुरी धारणा हो गई होगी। उस समय उनका पैर आगे नहीं बढ़ेगा। आशंका अनिश्चयात्मक वृत्ति है इससे ग्लानि की आशंका नहीं हो सकती। ग्लानि का संबंध अपने से कहीं बाहर की बुरी धारणा से तो होता नहीं, अपनी ही बुरी धारणा से होता है जिसमें अनिश्चय का भाव नहीं रह सकता। जिससे बुराई की जितनी ही अधिक संभावना होती है उसे रोकने का उतने ही पहले से उपाय किया जाता है। जिन्हे अपने किए पर ग्लानि हो सकती है उनके लिये उतने पहले से प्रतिबंध की आवश्यकता नहीं होती जितने पहले से उनके लिये होती है जो केवल यही समझकर दुखी होते हैं कि 'लोग हमें बुरा समझते हैं,' यह समझकर नहीं कि 'हम बुरे हैं।' जो निपट निर्लज्ज होते हैं, जो दूसरों की बुरी धारणा की भी तब तक परवा नहीं करते जब तक उससे किसी उग्र फल की आशंका नहीं होती, उनके कर्म प्रायः इतने बुरे, इतने असह्य हुआ करते हैं कि दूसरे उन्हें बुरा समझकर ही चुप नहीं रह जाते, छिः छिः करके ही संतोष नहीं कर लेते, मरम्मत करने के लिये भी तैयार हो जाते हैं जिससे उन्हें कभी भयभीत होना पड़ता है, कभी सशंक।

मनुष्य समाज-बद्ध प्राणी है इससे वह अपने को उनके कर्मों के गुण-दोष का भी भागी समझता है जिनसे उसका

संबंध होता है, जिनके साथ में वह देखा जाता है। पुत्र की अयोग्यता और दुराचार, भाई के दुर्गुण और असभ्य व्यवहार आदि का ध्यान करके भी दस आदमियों के सामने सिर नीचा होता है। यदि हमारा साथी हमारे सामने किसी तीसरे आदमी से बातचीत करने में भारी मूर्खता का प्रमाण देता है, भद्दी और ग्राम्य भाषा का प्रयोग करता है तो हमे भी लज्जा आती है। मैंने कुत्ते के कई शौकीनों को अपने कुत्ते की बद-तमीजी पर शरमाते देखा है। जिसे लोग कुमार्गी जानते हैं उसके साथ यदि हम कभी देवमंदिर के मार्ग पर भी देखे जाते हैं तो सिर झुका लेते हैं या बगल झाँकते हैं। बात यह है कि जिसके साथ हम देखे जाते हैं उसका हमारा कितनी बातों मे कहाँ तक साथ है दूसरों को इसके अनुमान की पूरी स्वच्छंदता रहती है, उनकी कल्पना की कोई सीमा हम तत्काल बाँध नहीं सकते। किसी बुरे प्रसंग में यदि निमित्त रूप से भी हमारा नाम आ जाता है तो हमें लज्जा होती है--चाहे ऐसा हमारी जानकारी मे हुआ हो, चाहे अनजान में। यदि बिना हमें जताए हमारे पक्ष में कोई कुचक्र रचा जाय तो उसका वृत्तांत फैलने पर हमे लज्जा क्या ग्लानि तक हो सकती है। लज्जा क्यों होती है, न पूछने की जरूरत है न बताने की। पर 'हम बुरे या तुच्छ हैं' यह धारणा कहाँ से आती है, यही देखना है। अपमान होने पर यदि क्रोध के लिये स्थान हुआ तो क्रोध का नहीं तो अपनी तुच्छता का अनुभव होता है।

दूसरों के चित्त में हमारे प्रति जो प्रेम या प्रतिष्ठा का भाव रहता है उसका ह्रास किसी कुचक्र के साथ अपने नाम मात्र का संबंध समझकर भी, हम समझे बिना नहीं रह सकते। जब स्थिति ऐसी होती है कि इस ह्रास का न हम समाधान द्वारा निराकरण कर सकते हैं न क्रोध द्वारा प्रतिकार तो सिवा इसके कि हम अपनी हीनता का अनुभव करें और कर ही क्या सकते हैं? भरत को इसी दशा मे पाकर राम ने उन्हे समझाया था कि—

तात जाय जनि करहु गलानी।
ईस अधीन जीव गति जानी॥
तीनि काल त्रिभुवन मत मोरे।
पुन्यसलोक तात तर तोरे॥
उर आनत तुम पर कुटिलाई।
जाइ लोक परलोक नसाई॥

जिसने इतनी बुराई की वह मेरी माता है इस भावना से जो लज्जा भरत को थी उसे दूर करने के लिये ही यह आगे का वचन है—

दोष देहिं जननिहिं जड़ तेई।
जिन्ह गुरु-साधु-सभा नहिं सेई॥

इस प्रकार दोष देनेवालों मे दोषोद्भावना द्वारा अनधिकार का आरोप करके माता के दोष का परिहार किया गया।

उत्तम कोटि के मनुष्यों को अपने दुष्कर्म पर ग्लानि होती है और मध्यम कोटि के मनुष्यों को अपने दुष्कर्म के किसी

कड़ुए फल पर। दुष्कर्म के अनेक अप्रिय फलों में से एक अपमान है जिसे सहकर अपनी तुच्छता का अनुभव किए विना लोग प्रायः नहीं रहते। जिन्हें अपने किसी कर्म की बुराई का ध्यान आपसे आप नहीं होता उन्हें ध्यान कराने का श्रम उसकी बुराई का विशेष अनुभव करनेवाले अपनी बुराई का सब ध्यान अपने हाथ का सब धंधा छोड़कर उठाते हैं। इस श्रम से दूसरों के लिये उनकी बुराई का फल पैदा किया जाता है जिसकी विरसता और कटुता कभी कभी अत्यंत ग्लानिकारक होती है। पर आँख खुलने पर जो आँख खोलनेवालों को ही देख सकें उनकी आँख की दुरुस्ती में बहुत कसर समझनी चाहिए। अपमान या हानि की जो ग्लानि उस अपमान या हानि ही तक ध्यान को ले जाय—उसके कारण तक न बढ़ावे—वह बुराई के मार्ग पर चल चुकनेवालों का थोड़ी देर के लिये पैर थाम या बल तोड़ सकती है पर उनका मुँह दूसरी ओर मोड़ नहीं सकती। अपमान का दुःख केवल इन शब्दों में व्यक्त किया जाता है कि 'हा! हमारी यह गति हुई!' उससे अपमान करनेवालों का काम तो हो जाता है पर दुःख करने-वालों का कोई मतलब नहीं निकलता। जो ग्लानि हमसे यह कहलावे कि 'यदि हमने ऐसा न किया होता तो हमारी यह गति क्यों होती?' वही पश्चात्ताप की ग्लानि है जिससे हमारा हृदय पिघलकर किसी नए साँचे मे ढलने के योग्य हो सकता है। अस्तु, कोई ऐसी बुराई करके जिससे चार आद-

मियों को कष्ट पहुँचा हो हम यह समझने में 'कि हमने बुरा किया' जितनी ही जल्दी करते हैं उतने ही मजे में रहते हैं क्योंकि बहुधा ऐसा होता है कि जिन्हें कष्ट पहुँचा रहता है वे हमारी इस समझ का पता पाकर संतुष्ट हो जाते हैं। अपनी किसी बुराई को वंध्या मानकर मन का खटका छुड़ानेवाले धोखा खाते हैं।

अपमान से जो ग्लानि होती है वह दो भावों के आधार पर—'हम ऐसे तुच्छ हैं', 'हम ऐसे बुरे हैं।' इन दोनों भावों को कभी कभी लोग बड़ी फुरती और सफाई से रोकते हैं। अपनी तुच्छता का भाव अधिकांश में अपनी असामर्थ्य और दूसरे की सामर्थ्य का भाव है। हम इतने असमर्थ हैं कि दूसरे हमारा अपमान कर सकते हैं इस भाव से निवृत्ति तो लोग चट अपनी सामर्थ्य का परिचय देकर—अपमान करनेवाले का अपमान करके—कर लेते हैं। रहा अपने दोष या बुराई का भाव—उससे छुटकारा लोग दोष देनेवालों में दोष ढूँढ़कर कर लेते हैं। इस प्रकार अपनी सामर्थ्य और दूसरे के दोष की भावना मन में भरकर वे अपनी तुच्छता और बुराई के अनुभव के लिये कोई कोना खाली ही नहीं छोड़ते। ऐसे लोग चाहे लाख बुराई करें, एक की दस सुनाने को सदा तैयार रहते हैं। अपने को ऐसा ही कल्पित करके तुलसीदासजी कहते हैं—

जानत हू निज पाप जलधि जिय,
जल-सीकर सम सुनत लरौं।

रज सम पर-अवगुन सुमेरु करि,
गुन गिरि सम रज ते निदरौं ॥

अकारण अपमान पर जो ग्लानि होती है वह अपनी तुच्छता, अपनी सामर्थ्य-हीनता पर ही होती है। लोक-मर्य्यादा की दृष्टि से हमको इतनी सामर्थ्य का संपादन करना चाहिए कि दूसरे अकारण हमारा अपमान करने का साहस न कर सकें। समाज में रहकर मान-मर्य्यादा का भाव हम छोड़ नहीं सकते। अतः इस सामर्थ्य का अभाव हमें खटक सकता है, उसकी हमें ग्लानि हो सकती है। जो संसार-त्यागी वा आत्म-त्यागी हैं उनका विगतमान होना तो बहुत ठीक है, पर लोकव्यवहार की दृष्टि से अनिष्ट से बचने बचाने के लिये इष्ट यही है कि हम दुष्टों का हाथ थामें और धृष्टों का मुँह—उनकी वंदना करके हम पार नहीं पा सकते। इधर हम हाथ जोड़ेंगे उधर वे हाथ छोड़ेंगे। असामर्थ्य हमें सहनशीलता का श्रेय भी पूरा पूरा नहीं प्राप्त करने देगी।

मान लीजिए कि एक ओर से हमारे गुरुजी और दूसरी ओर से एक दंडधारी दुष्ट दोनों आते दिखाई पड़े। ऐसी अवस्था में पहले हमें उस दुष्ट का सत्कार करके तब गुरुजी को दंडवत् करना चाहिए। पहले उस दुष्ट द्वारा होनेवाले अनिष्ट का निवारण कर्त्तव्य है फिर उस आनंद का अनुभव जो गुरुजी के चरणस्पर्श से होगा। यदि हम पहले गुरुजी को साष्टांग दंडवत् करने लगेंगे तो बहुत संभव है कि वह दुष्ट

हमारे अंगों को फिर उठने लायक ही न रखे। यदि हममें सामर्थ्य नहीं है तो हमें बिना गुरुजी को प्रणाम दंडवत् किए ही भागना पड़ेगा जिसकी शायद हमें बहुत दिनों तक ग्लानि रहे।

लज्जा का एक हलका रूप संकोच है जो किसी काम को करने के पहले ही होता है। कर्म पूरे होने के साथ ही उसका अवसर निकल जाता है, फिर तो लज्जा ही लज्जा हाथ रह जाती है। सामान्य से सामान्य व्यवहार मे भी संकोच देखा जाता है। लोग अपना रुपया माँगने मे संकोच करते हैं, साफ साफ बात कहने मे संकोच करते हैं, उठने मे संकोच करते हैं—मुआफ कीजिएगा—लेटने में संकोच करते हैं, खाने-पीने मे सकोच करते हैं, यहाँ तक कि एक सभा के सहायक मंत्री हैं जो कार्य्यविवरण पढ़ने मे संकोच करते हैं। सारांश यह कि एक बेवकूफी करने मे लोग सकोच नहीं करते और सब बात में करते हैं। इससे उतना हर्ज भी नहीं क्योंकि बिना बेवकूफ हुए बेवकूफी का बुरा लोग प्रायः नहीं मानते। इतनी क्रियाओं का प्रतिबंधक होने के कारण संकोच शील का एक प्रधान अंग, सदाचार का एक सहज साधक और शिष्टाचार का एकमात्र आधार है। जिसमें शील-संकोच नही वह पूरा मनुष्य नहीं। बाहरी प्रतिबंधों से ही हमारा पूरा शासन नहीं हो सकता, उन सब बातों की रुकावट नहीं हो सकती जिन्हें हमें न करना चाहिए। प्रतिबंध हमारे अंतःकरण में होना चाहिए। यह आभ्यंतर प्रतिबंध दो प्रकार का हो सकता है—

एक विवेचनात्मक जो प्रयत्नसाध्य होता है, दूसरा मनःप्रवृत्त्यात्मक जो स्वभावज होता है। बुद्धि द्वारा प्रवृत्ति जबरदस्ती रोकी जाती है, पर लज्जा, संकोच आदि की अवस्था में प्राप्त होकर प्रवर्त्तक मन आपसे आप रुकता है—चेष्टाएँ आपसे आप शिथिल पड़ती हैं। यही रुकावट सच्ची है। मन की जो स्थिति बड़ों की बात का उत्तर देने से रोकती है, बार बार किसी से कुछ माँगने से रोकती है, किसी पर किसी प्रकार का भार डालने से रोकती है, उसके न रहने से भलमनसाहत भला कहाँ रहेगी? यदि सबकी धड़क एकबारगी खुल जाय तो एक ओर छोटे मुँहों से बड़ी बड़ी बातें निकलने लगें, चार दिन के मेहमान तरह तरह की फरमाइशें करने लगें, उँगली का सहारा पानेवाले बाँह पकड़कर खींचने लगें; दूसरी ओर बड़ों का बहुत कुछ बड़प्पन निकल जाय, गहरे गहरे साथी बहरे हो जायँ या सूखा जवाब देने लगें, जो हाथ सहारा देने के लिये बढ़ते हैं वे ढकेलने के लिये बढ़ने लगें—फिर तो भलमनसाहत का भार उठानेवाले इतने कम रह जायँ कि वे उसे लेकर चल ही न सकें।

संकोच इस बात के ध्यान वा आशंका से होता है कि जो कुछ हम करने जा रहे हैं वह किसी को अप्रिय या बेढंगा तो न लगेगा, उससे हमारी दुःशीलता वा धृष्टता तो न प्रकट होगी। इस बात का जिन्हें कुछ भी ध्यान नहीं रहता उनका दस आदमियों का साथ नहीं निभ सकता और जिन्हें अत्यंत अधिक ध्यान रहता है उनके भी कामों में बाधा पड़ती है। विघ्न-प्रति-

बिव रूप से परस्पर मनोभावों के स्थित होने से ही संसार के व्यवहार चलते हैं। यदि एक इस बात का ध्यान रखता है कि दूसरे को कोई बात खटके न, बुरी न लगे और दूसरा उसकी हानि कठिनाई आदि का कुछ भी ध्यान नहीं रखता है तो यह स्थिति व्यवहार-बाधक है। ऐसी स्थिति में भी संकोच करनेवालों के काम देर से निकलते हैं या निकलते ही नहीं। पर इससे यह न समझना चाहिए कि जितने 'अपने संकोची स्वभाव' की शिकायत के बहाने अपनी तारीफ किया करते हैं वे सब अपनी भलमनसाहत से ही दुःख भोगा करते हैं। ऐसे लोगों मे संकोच तो नाममात्र को न समझना चाहिए। जिन्हें यह कहने में संकोच नहीं कि 'हम बड़े संकोची हैं' उनमे संकोच कहाँ? उन्हें यह कहते देर नहीं कि 'अमुक बड़ा निर्लज्ज है, बड़ा दुष्ट है।'

लज्जा या संकोच यदि बहुत अधिक होता है तो उसे छुड़ाने की फिक्र की जाती है क्योंकि उससे कभी कभी आवश्यकता से अधिक कष्ट उठाना पड़ता है तथा व्यवहार तो व्यवहार, शिष्टाचार तक का निर्वाह कठिन हो जाता है। सुख से रहने का सीधा रास्ता बतलानेवालों ने तो 'आहार और व्यवहार' में लज्जा का एकदम त्याग ही विधेय ठहराया है। पर मुझे तो यहाँ यह देखना है कि बात बात मे लज्जा करनेवालों की धारणा कैसी होती है, उनके चित्त में समाई क्या रहती है। कोई क्रिया या व्यापार किसी को बुरा, बेढंगा या अप्रिय न लगे यह ध्यान तो निर्दिष्ट और स्पष्ट होने के कारण कुछ

विशिष्ट व्यापारों का ही अवरोध करता है क्योंकि जो जो काम लोगों को बुरे, बेढंगे या अप्रिय लगा करते हैं उनकी एक छोटी या बड़ी सूची सबके अनुभव में रहती है। पर जो यही अनिश्चित भावना रखकर संकुचित होते हैं कि कोई बात लोगों को न जाने कितनी बुरी लगे उन्हें न जाने कितनी बातों में संकोच या लज्जा हुआ करती है। उन्हें बात बात में खटका होता हो, बोलना न जाने कैसा मालूम होता हो, हाथ पैर हिलाना न जाने कैसा मालूम होता हो, ताकना न जाने कैसा मालूम होता हो, उनके ऐसे आदमी का होना—वे कैसे है चाहे वे कुछ भी न जानते हों—न जाने कैसा मालूम होता हो। न जाने कैसे लगने का डर उन्हें लोगों के लगाव से दूर दूर रखता है। यह आशंका इतनी अव्यक्त होती है, लज्जा और इसके बीच का अंतर इतना चणिक होता है कि साधारणतः इसका अलग अनुभव नहीं होता।

'कुछ लोगों के मुँह से लज्जा या संकोच के मारे आदर-सत्कार के आवश्यक वचन नहीं निकलते, बहुत से लड़कों को प्रणाम करने में लज्जा मालूम होती है। ऐसी लज्जा किसी काम की नहीं समझी जाती। बच्चों को अपनी तुच्छता, बुराई या बेढंगेपन की भावना बहुत कम होती है, वे अपनी क्रियाओं में स्वभावतः स्वच्छंद होते हैं पर विशेष स्थिति मे पड़कर वे इतने भीरु और लज्जालु हो जाते हैं कि नए आदमियों के सामने नहीं आते, लाख पूछने पर कोई बात मुँह से नहीं निकालते।

ऐसी दशा अधिकतर उन बच्चों की होती है जो बात बात पर, उठते बैठते, हिलते डोलते, डाँटे धिक्कारे या चिढ़ाए जाते हैं। लोग अकसर प्यार से बच्चों को किसी भद्दे, बेढंगे या बुरे आदमी का ध्यान कराकर उन्हें चिढ़ाते हैं कि 'तुम वही हो'। इस प्रकार उन्हें सहमने, संकोच करने, लज्जित होने आदि का अभ्यास कराया जाता है जो बढ़ते बढ़ते बहुत बढ़ जाता है।

अपनी त्रुटि, बेढंगेपन, धृष्टता इत्यादि का परिचय दूसरों को—विशेषत: पुरुषों को—न मिले इसका ध्यान स्त्रियों मे बहुत अधिक और स्वाभाविक होता है, इसी से उनमें लज्जा अधिक देखी जाती है। वे सदा से पुरुषों के आश्रय में रहती आई हैं इससे 'हम धृष्ट या अप्रिय न लगें' इसकी आशंका उनमे चिरस्थायिनी होकर लज्जा के रूप में हो गई है। बहुत सी स्त्रियाँ ऐसी होती हैं--विशेषत: बड़े बड़े घरों की--जिनकी काम धंधे के रूप में भी लोगों के सामने हाथ-पैर हिलाने की धड़क नहीं खुली रहती, अत: उनका अधिक लज्जाशील होंना ठीक ही है। लोग लज्जा को स्त्रियों का भूषण कह कहकर उनमें धृष्टता के दूषण से बचने का ध्यान और भी पक्का करते रहे। धीरे धीरे उनके रूप-रंग के समान उनकी लज्जा भी पुरुषों के आनंद और विलास की एक सामग्री हुई। रस-कोविद लोग मुग्धा की लज्जा का वर्णन कान में डालकर रसिकों को आनंद से उन्मत्त करने लगे।

—रामचंद्र शुक्ल

(८) भारतेंदु हरिश्चंद्र

संवत् १६५७ में इँगलैंड में ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना हुई और उसे भारतवर्ष से व्यापार-संबंध स्थापित करने का एकाधिकार दिया गया। बारह वर्ष तक उद्योग में लगे रहने के अनंतर संवत् १६६९ में इस कंपनी का पहला कारखाना सूरत में खुला। इस साधारण घटना से ब्रिटिश जाति और भारतवर्ष के पारस्परिक संबंध का सूत्रपात हुआ। क्रमश: व्यापार की वृद्धि होने लगी। डच और फरासीसी लोगों ने भी इसी समय के लगभग भारतवर्ष से व्यापारिक संबंध स्थापित किया। इन तीनों यूरोपीय जातियों में पहले तो अपना अपना व्यापार बढ़ाने के लिये बहुत कुछ स्पर्धा हुई, पर पीछे से जब यूरोप में युद्ध छिड़ गया, तब यहाँ भी उसका परिणाम देख पड़ने लगा और यहाँ भी वे जातियाँ परस्पर छोटा मोटा युद्ध करने लगीं; यह दशा बहुत वर्षों तक रही। अंत में इस सामरिक तथा व्यापारिक प्रतिद्वंद्विता में अँगरेज जाति की विजय हुई और वह दृढ़तापूर्वक भारतवर्ष में अपना प्रभुत्व जमाने लगी। संवत् १८१४ की पलासी की लड़ाई के उपरांत अँगरेजों के पैर इस देश में दृढ़ता से जमने लगे, परंतु अवस्था अभी तक डाँवाँ-डोल थी। संवत् १८६० में मुगल-साम्राज्य का अंत हो गया

और मुगल-सम्राट् अँगरेजों से पेनशन पाकर अपना जीवन बिताने लगा। अब इस विस्तृत राज्य को भली भाँति शासित करने का उद्योग किया जाने लगा। संवत् १९१४ में सिपाही-विद्रोह हुआ, जिससे ब्रिटिश शासन की जड़ हिल गई, पर अँगरेजों के सौभाग्य से उन्हें थोड़े ही दिनों मे इस विपत्ति से छुटकारा मिल गया और उन्होंने इस विद्रोह को दमन करके अपने शासन की नींव दृढ़ता से जमा ली। इसके उपरांत ब्रिटिश जाति और भारतवर्ष के संबंध की घनिष्ठता दिन पर दिन बढ़ने लगी। एक व्यापारी संस्था ने वणिज-व्यापार के लिये इस देश में आकर २५० वर्षों में यहाँ अपना अटल राज्य स्थापित कर लिया।

इस दैवी घटना के कारण इँगलैंड की अपेक्षाकृत नवीन सभ्यता का भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता से संबंध स्थापित हुआ और दोनों में संघर्षण होने लगा। विजय के उत्साह में मग्न होकर अँगरेज अपनी जाति तथा अपने देश के उपकार में दत्तचित्त थे और अत्यंत कुशलतापूर्वक अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये प्रयत्नवान् हो रहे थे। पिछले एक सहस्र वर्षों से भारतवर्ष विदेशियों के अधीन होकर तथा उनकी सेवा-वृत्ति करके अपना जीवन बिता रहा था। एक में उत्साह, जाति-प्रेम और देशाभिमान के भाव भरे हुए थे, दूसरा संकटापन्न होकर अपने दिन कठिनाई से काट रहा था। उसे अपने जीवन तक के लाले पड़ रहे थे, स्वार्थपरता ने उस

पर अपना पूर्ण अधिकार जमा लिया था। ऐसी अवस्था में दो भिन्न भिन्न सभ्यताओं का संघर्षण सम शक्ति से नहीं चल सकता था।

किसी लेखक का कहना है कि यूरोप के लोग पहले व्यापार का झंडा लेकर आगे बढ़ते हैं। उसके पीछे धर्म का झंडा खड़ा किया जाता है और अंत में सभ्यता का अजेय दुर्ग खड़ा होकर विजितों को अपना अस्तित्व भुलाकर उसी की महत्ता स्वीकृत करने के लिये बाध्य करता है। भारतवर्ष मे भी क्रमशः ये ही घटनाएँ हुई। जब अँगरेजों के पैर यहाँ जम गए तब उन्हें अपने शासन को सुचारु रूप से चलाने की चिंता हुई। उन्होंने भारतवर्ष को भारतीय सिपाहियों की सहायता से जीता था। अब शासन भी भारतीयों की सहायता से चलने लगा, पर शासन को ठीक ठीक चलाने के लिये शासक और शासित में परस्पर व्यवहार की आवश्यकता होती है और यह व्यवहार केवल भाषा के द्वारा संपन्न हो सकता है। अतएव यह आवश्यक हुआ कि शासक शासित की भाषा का ज्ञान प्राप्त करें और शासित शासक की भाषा का। इस पारस्परिक व्यवहार-विनिमय के लिये ऐसे विद्यालयों के स्थापन की आवश्यकता हुई जहाँ अँगरेजों को भारतीय भाषाएँ सिखाई जायँ। साथ ही ऐसा आयोजन भी अनिवार्य था, अनिवार्य ही नहीं वरन् परम आवश्यक था, जिससे भारतीयों को अँगरेजी भाषा का ज्ञान प्राप्त कराया जाय। इस अन्यो-

न्याश्रित व्यापार की आवश्यकता में मात्रा का भेद रहा। शासकों के लिये भारतीय भाषाओं का व्यावहारिक ज्ञान उतना आवश्यक नहीं था जितना शासितों के लिये, क्योंकि शासितों को अपनी भाषा का ज्ञान प्राप्त कराके वे उनके द्वारा सुगमता से अपना काम चला सकते थे। इस स्थिति में पहले तो फोर्ट विलियम कालेज मे ऐसा प्रबंध किया गया कि इँगलैंड से आए हुए नवयुवक शासकों को भारतीय भाषाओं की शिक्षा दी जाय, पर पीछे से इसकी तादृश आवश्यकता न समझी गई और यह कालेज बंद कर दिया गया। पहले चाहे जिस भाव से प्रेरित होकर यह कालेज खोला गया और फिर बंद कर दिया गया हो, पर इसने हिंदी साहित्य का रूप ही बदल दिया। अँगरेजों का यह नियम है कि वे पहले यह निश्चय कर लेते हैं कि कौन कौन सी बातें हमारे लिये आवश्यक और उपयोगी हैं और तब वे उनकी प्राप्ति के लिये प्रयत्नवान् हो जाते हैं। हमारी हिंदी भाषा का साहित्य अब तक प्रायः पद्यमय था, गद्य तो उसमें नाममात्र को था। पद्य के द्वारा पारस्परिक व्यवहार कभी चल नहीं सकता। यद्यपि सब देशों के साहित्य में पहले पद्य का ही आविर्भाव होता है, पर साथ ही परस्पर भाव-विनिमय के लिये गद्य का भी प्रयोग होता है। हिंदी में भी साहित्य का आरंभ पद्य-रचना से हुआ है और इसके लिये व्रजभाषा का ही विशेष प्रयोग हुआ है, पर भारतवर्ष एक बहुत बड़ा देश है और प्राचीन समय

में देश के भिन्न भिन्न भागों के रहनेवालों के आने-जाने तथा मिलने-जुलने के साधन सुगम न होने के कारण भाव-विनिमय के लिये अनेक प्रांतिक भाषाओं तथा उपभाषाओं का खंड-राज्य था। इस अवस्था मे जब अँगरेजों को शासकों और शासितों के बीच परस्पर व्यवहार स्थापित करने की आवश्यकता हुई, तब वे इस काम के लिये भिन्न भिन्न उपभाषाओं तथा बोलियों में से किसी एक को नहीं चुन सकते थे। इस काम के लिये उन्होंने मुख्य मुख्य प्रांतीय भाषाओं को चुना जिनमें हिंदी भी एक थी। पर हिदी में गद्य-ग्रंथ तो थे ही नहीं, इसलिये वे इन ग्रंथों के निर्माण की ओर दत्तचित्त हुए। इस प्रकार फोर्ट विलियम कालेज में लल्लूजीलाल, सदल मिश्र आदि पंडितों को यह काम सौंपा गया और उन्होंने सफलतापूर्वक इसे संपन्न किया। इन घटनाओं के वशवर्ती होकर हिंदी गद्य की नींव दृढ़तापूर्वक रखी गई।

अब इस बात का विचार आरंभ हुआ कि भारतवासियों को किस प्रकार की शिक्षा दी जाय और वह भी किस भाषा के द्वारा हो। बहुत वाद-विवाद तथा सोच-विचार के अनंतर अँगरेजी भाषा द्वारा पाश्चात्य विद्याओं की शिक्षा देना निश्चित हुआ और उसके अनुसार भारतवर्ष के भिन्न भिन्न स्थानों में इसका प्रबध होने लगा। इस कार्य को इँगलैंडवासी कितना आवश्यक और उपयोगी समझते थे, इसका अनुमान एक इसी बात से कर लेना चाहिए कि संवत् १९१४ में, जब कि

सिपाही-विद्रोह भयानक रूप धारण किए हुए था, पहला विश्वविद्यालय स्थापित किया गया। तब से लेकर आज तक शिक्षा का कार्य बराबर चला आ रहा है। पाश्चात्य शास्त्रों की शिक्षा देने और अँगरेजी भाषा का ज्ञान प्राप्त कराने में बड़ा अंतर है। एक से ज्ञान की वृद्धि हो सकती है, पर दूसरे से एक विदेशीय जाति के परस्पर व्यवहार की भाषा से परिचय होता है। भाषा द्वारा जो विजय प्राप्त होती है, वह चिरस्थायिनी और अधिक व्यापक होती है। अपनी निज की भाषा, अपने प्राचीन साहित्य तथा अपने प्राचीन इतिहास के ज्ञान से शून्य रहकर जब मनुष्य किसी विदेशीय भाषा, विदेशीय साहित्य और विदेशीय इतिहास का ज्ञान प्राप्त करता है और उनकी महत्ता पर मुग्ध हो जाता है, तब वह धीरे धीरे अपने आपको भूलने लगता है और अंत मे विदेशीय रंग में ऐसा रँग जाता है कि उसे अपने देश की सब बातों से विराग उत्पन्न होने लगता है; उसे अपनी भाषा गँवारू और व्यंजक-शक्ति-रहित जान पड़ने लगती है, अपना साहित्य हीन और अपूर्ण देख पड़ने लगता है और अपने इतिहास मे पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष के झगड़ों को छोड़कर और कुछ मिलता ही नहीं। सारांश यह कि वह अपने आपको एक अशिक्षित, असभ्य और गुणहीन जाति का मनुष्य समझने लगता है। अँगरेजी शिक्षा ने बहुत दिनों तक शिक्षित भारतीयों के हृदयों पर ऐसा ही प्रभाव डालना आरंभ कर दिया था। वे सब बातों मे

शासकों ही को सर्वश्रेष्ठ और अपना आदर्श मानने लगे थे; उनका अनुकरण करने में ही अपना महत्त्व समझते थे। रहन-सहन, कपड़े-लत्ते, चाल-ढाल, बातचीत आदि सब बातों में अँगरेज उनके आदर्श हो रहे थे। यदि यह अवस्था और कुछ काल तक बनी रहती, तो भारतवर्ष का रूप ही कुछ का कुछ हो जाता। उसमें अपने पूर्व गौरव का कोई चिह्न वर्तमान न रह जाता। वह अँगरेजी रंग में ऐसा रँग जाता कि उसे क्रिस्तान होने, अँगरेजी भाषा बोलने और अँगरेजी आचार-विचार तथा व्यवहार को अंगीकार करने में ही अपने जीवन का साफल्य जान पड़ने लगता। पर ईश्वर को यह स्वीकृत न था। उसकी तो यह इच्छा थी कि पूर्व और पश्चिम के सम्मेलन से वृद्ध भारत फिर से जाग उठे, उसमें नई शक्ति का संचार हो जाय, वह नए भावों से पूर्ण हो संसार की उन्नत जातियों में पुनः अपना महत्त्व स्थापित करे। संसार में जब जब ऐसे महत्त्व के परिवर्तन होने को होते हैं, तब तब उनको सिद्ध करने के लिये विशेष शक्ति-संपन्न आत्माओं का आविर्भाव होता है। ब्रह्मसमाज ने बंगाल को क्रिस्तान होने से बचा लिया। उत्तर भारत में स्वामी दयानंद सरस्वती ने धर्म और समाज-सुधार की ऐसी बलवती धारा प्रवाहित की कि देश का यह भाग अपने पूर्व गौरव को समझ और अपने प्राचीन आचार-विचार से अभिज्ञ होकर क्रिस्तान होने से बच गया। वैसे ही भारतेंदु हरिश्चंद्र ने हिंदी भाषा में नई संजीवनी शक्ति

का संचार कर उसे इस योग्य बना दिया कि वह जातीय विकास की सहायक होकर भारतवासियों की मातृभाषा के उपयुक्त गौरव को प्राप्त करने मे समर्थ हुई। पहले कहा जा चुका है कि सभ्यता की विजय राजनीतिक विजय से अधिक महत्त्वपूर्ण और स्थायी होती है। संयोग से जब राजनीतिक विजय के साथ सभ्यता की विजय की सहयोगिता और सहकारिता हो जाती है तब वह राजनीतिक विजय चिरस्थायिनी होकर किसी विजित देश को सदा-सर्वदा के लिये अपना बना लेती है। एक दूरदर्शी लेखक का कथन है कि यदि किसी देश को निरंतर दासत्व की शृंखला में बाँधे रखना हो, तो पहले उसका इतिहास नष्ट कर देना चाहिए। इसका सबसे सुगम उपाय उस देश के वासियो में अपनी मातृभाषा से अरुचि उत्पन्न करके विजेताओं की भाषा के प्रति विशेष अनुराग और गाढ़ी ममता उत्पन्न कर देना है। भारतवर्ष में यही उद्योग किया गया था, पर 'मेरे मन कछु और थी कर्ता के मन और'। ईश्वर ने भारतेंदु हरिश्चंद्र को इस लोक मे भेजकर इस प्रवाह को उलटा बहा दिया। मातृभाषा हिंदी के प्रति विराग के स्थान पर अनुराग उत्पन्न हो गया। पाश्चात्य शिक्षा-प्राप्त लोगों की रुचि बदल गई और उनमे अपने साहित्यभांडार को सुंदर सुंदर रत्नों से भरने की उत्कट कामना उत्पन्न हो गई।

"भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय से हिंदी साहित्य का नया युग आरंभ होता है। इन्होंने जिस अवस्था में हिंदी को

पाया वह विलक्षण थी। पद्य मे जायसी, सूर, तुलसी आदि के आख्यान-काव्यों का समय एक प्रकार से बीत चुका था। केशव के चलाए हुए नायिकाभेद, रस, अलंकार आदि को लक्ष्य करती हुई स्फुट कविताओं के छींटे उड़ रहे थे। गद्य प्रेमसागर, सिंहासन-बत्तीसी और वैताल पचीसी से ही संतोष किए बैठा था।

"यद्यपि देश में नए नए भावों का संचार हो गया था, पर हिंदी भाषा उनसे दूर थी। लोगों की अभिरुचि बदल चली थी, पर हमारे साहित्य पर उसका प्रभाव नहीं पड़ा था। शिक्षित लोगों के विचारों और व्यापारों ने दूसरा मार्ग तो पकड़ लिया था, पर उनका साहित्य उसी पुराने मार्ग पर था। ये लोग समय के साथ स्वयं तो कुछ आगे बढ़ आए थे, पर जल्दी में अपने साहित्य को साथ न ले सके। उसका साथ छूट गया और वह उनके कार्यक्षेत्र से अलग पड़ गया। प्रायः सभी सभ्य जातियों का साहित्य विचारों और व्यापारों से लगा हुआ चलता है। यह नहीं कि उनकी चिंताओं और कार्यों का प्रवाह तो एक ओर हो और उनके साहित्य का प्रवाह दूसरी ओर। फिर यह विचित्र घटना यहाँ कैसे हुई? बात यह है कि जिन लोगों के हृदय में नई शिक्षा के प्रभाव से नए विचार उत्पन्न हो चले थे, जो अपनी आँखों से देश-काल का परिवर्तन देख रहे थे, उनमें अधिकांश तो ऐसे थे जिनका कई कारणों से हिंदी साहित्य से लगाव छूट सा गया था,

श्रौर शेप ऐसे थे जिन्हें हिंदी साहित्य का मंडल बहुत ही बद्ध श्रौर परिमित दिखाई देता था, जिन्हें नए विचारों को सन्निविष्ट करने के लिये स्थान ही नहीं सूझता था। उस समय एक ऐसे साहसी श्रौर प्रतिभा-संपन्न पुरुष की आवश्यकता थी जो कौशल से इन बढ़ते हुए विचारों का मेल देश के परंपरागत साहित्य से करा देता। बाबू हरिश्चंद्र का प्रादुर्भाव ठीक ऐसे ही समय में हुश्रा श्रौर वे यह कार्य करने में समर्थ हुए* ।"

भारतेंदुजी की साहित्य-सेवा-रूपी सरिता अनेक धाराश्रों मे प्रवाहित हुई थी। नाटक, आख्यान, काव्य, स्तोत्र, परिहास, इतिहास, माहात्म्य इत्यादि भिन्न भिन्न विषयों पर इनकी लेखनी परिचालित हुई थी। साधारणत: हम इनकी रचनाश्रों को दो मुख्य भागों मे विभक्त कर सकते हैं—पद्यात्मक रचनाएँ श्रौर गद्यात्मक रचनाएँ। इन दोनों प्रकार की रचनाश्रों में हम समान रूप से एक व्यापक भाव पाते हैं। चाहे जैसा अवसर हो श्रौर चाहे जिस प्रकार की रचना की आवश्यकता हो, भारतेंदुजी अपने देश को नहीं भूलते, घूम फिरकर इन्हे उसके पूर्व गौरव, वर्तमान हीन अवस्था श्रौर भविष्य का ध्यान आ ही जाता है श्रौर ये तत्संबंधी अपने हृदयोद्गारों को रोक नहीं सकते। जिस समय भारतीय सेना के मिस्र में विजय प्राप्त करने का समाचार इस देश मे पहुँचा, काशी मे इस उपलक्ष मे बड़ा आनंद मनाया गया। भारतेंदुजी ने उस अवसर पर

* नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग १४ सख्या १०।

"विजयिनी-विजय-वैजयंती" शीर्षक कविता लिखकर अपना आनंद प्रकट किया था। युद्ध की घटना का इस प्रकार साधारण वर्णन करते हुए—

तड़ित तार के द्वार मिल्यो सुभ समाचार यह—
भारत सैना कियो घोर संग्राम मिस्र महँ।
जेनरल मकफरसन आदिक जे सेनापति-गन।
तिन लै भारत सैन कियो भारी अति ही रन।
बोलि भारती सैन दई आयसु उठि धाओ।
अभिमानी अरबी वेगहि वेगहि गहि लाओ॥
सुनि कै सबही परम वीरता आज दिखाई।
सत्रुगनन सों सन्मुख भारी करी लराई।
छिन मे सत्रु भगाइ गह्यो अरबी पासा कहँ।
तीन सहस रनवीर करे बँधुआ संगर महँ।
आरजगन को नाम आजु सबही रख लीनो।
पुनि भारत को सीस जगत महँ उन्नत कीनो॥

जहाँ भारतवर्ष का नाम आया, ये अपने को सँभाल नहीं सके और अपने प्यारे देश के विषय में इस प्रकार कह चले—

कित अर्जुन कित भीम कित, करन नकुल सहदेव।
कित विराट अभिमन्यु कित, द्रुपद सल्य नरदेव॥

प्राचीन गौरव का स्मरण करते ही उन्हें वर्तमान दीन अवस्था का भी स्मरण हो आता है—

हाय वहै भारत भुव भारी, सबही विधि ते भई दुखारी।

यह कहा जा सकता है कि यह विषय ही ऐसा था कि कवि की लेखनी इस प्रकार चंचल हो उठी। पर यही प्रवृत्ति उनके नाटकों मे भी देख पड़ती है। भारत-दुर्दशा, नीलदेवी, अंधेर-नगरी आदि रचनाओं में देशहितैपिता के भाव कूट कूट-कर भरे हैं। भारत-दुर्दशा के आरंभ में ही वे लिखते हैं—

रोवहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई।
हा हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई॥
सबके पहिले जेहि ईश्वर धन बल दीनो।
सबके पहिले जेहि सभ्य विधाता कीनो।
सबके पहिले जो रूप रंग रस भीनो।
सबके पहिले विद्याफल जिन गहि लीनो।
अब सबके पीछे सोई परत लखाई।
हा हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई॥
जहँ भए शाक्य हरिचंदरु नहुष ययाती।
जहँ राम युधिष्ठिर बासुदेव सर्याती।
जहँ भीम करन अर्जुन की छटा दिखाती।
तहँ रही मूढ़ता कलह अविद्या राती॥

इसी नाटक के छठे अंक के आरंभ मे वे भारत-भाग्य से कहलाते हैं—

सोवत निसि बैस गँवाई, जागो जागो रे भाई।
निसि की कौन कहै दिन बीत्यो काल-राति चलि आई।
देख परत नहि हित-अनहित कछु परे बैरि बस जाई।

निज उद्धार पंथ नहि सूझत सीस धुनत पछिताई।
अबहूँ चेति पकरि राख्यो किन जो कछु बची बड़ाई।
फिरि पछिताए कछु नहि ह्वैहै रहि जैहो मुँह बाई॥

इसके आगे भारत के प्राचीन गौरव का ऐसा सुंदर चित्र खींचा गया है जिसे पढ़ते ही रोमांच हो आता है और हृदय देशाभिमान से पूर्ण हो जाता है, पर अंत मे अपनी वर्तमान अवस्था देखकर कवि का यह कहना "सोइ भारत की आज यह भई दुरदसा हाय" उसके क्षोभ, उसकी निराशा और उसकी उद्विग्नता सूचित करता है। इसी प्रकार नीलदेवी के सातवे अंक में "सब भाँति दैव प्रतिकूल होइ एहि नासा" आदि पंक्तियों मे उन्होंने भारतवर्ष का वर्तमान और भावी अवस्था का कैसा सच्चा पर साथ ही कितना हृदय-विदारक चित्र अंकित किया है जिसे पढ़कर भारतमाता का कौन ऐसा पुत्र होगा जिसका हृदय विचलित न हो उठे और जिसके मुँह से अनायास आह न निकल पड़े? जब मनुष्य सब ओर से हार जाता है तब उसका ध्यान दीन-दुखियों के एक-मात्र आश्रय परमेश्वर की ओर जाता है और वह उसकी शरण में जाकर अपने त्राण की प्रार्थना करता है। नीलदेवी के आठवें अंक में यह विनय कितनी हृदयस्पर्शी और द्रावक है--

कहाँ करुनानिधि केसव सोए!
जागत नेक न यदपि बहुत विधि भारतवासी रोए।
इक दिन वह हो जब तुम छिन नहिं भारत-हित बिसराए।

इत के पसु गज को आरत लखि आतुर प्यादे धाए।
इक दिन दीन हीन नर के हित तुम दुख सुनि अकुलाई।
अपनी संपति जानि इनहि तुम रह्यौ तुरंतहि धाई।
प्रलय-काल सम जौन सुदरसन असुर-प्रान-संहारी।
ताकी धार भई अब कुंठित हमरी वेर मुरारी।
दुष्ट जवन बरबर तुव संतति घास साग सम काटैं।
एक एक दिन सहस्र सहस नर-सीस काटि भुव पाटैं।
ह्वै अनाथ आरत कुल-विधवा विलपहिं दीन दुखारी।
बल करि दासी तिनहिं बनावहिं तुम नहिं लजत खरारी।
कहाँ गए सब शास्त्र कही जिन भारी महिमा गाई।
भक्तवछल करुनानिधि तुम कहँ गायो बहुत बनाई।
हाय सुनत नहिं निठुर भए क्यों परम दयाल कहाई।
सब बिधि बूड़त लखि निज देसहि लेहु न अबहुँ बचाई॥

इस नाटक के संबंध में भी वही आपत्ति खड़ी की जा सकती है जो 'विजयिनी-विजय-वैजयती' में हो सकती है, पर शृंगार-रस-पूर्ण "कर्पूर-मंजरी" के प्रशस्ति-वाक्य को देखिए—

उन्नत-चित ह्वै आर्य परस्पर प्रीति बढ़ावैं।
कपट-नेह तजि सहज सत्य व्यौहार चलावैं।
जवन-संसरग-जात दोषगन इनसों छूटैं।
सबै सुपथ पथ चलैं नितहि सुख संपति लूटैं।
तजि बिबिध-देव-रति कर्म-मति एक भक्ति-पथ सब गहैं।
हिय भोगवती सम गुप्त हरि-प्रेम-धार नितही बहैं॥

इसी प्रकार 'सत्य-हरिश्चंद्र' का प्रशस्ति-वाक्य है, जिसका उपयोग 'कविवचन-सुधा' के सिद्धांत-वाक्य में किया गया है। ऐसे ही और भी अनेक उदाहरण उपस्थित किए जा सकते हैं। और तो और, प्रबोधिनी एकादशी पर भगवान् को जगाने के लिये "जागो मंगलरूप सकल व्रजजन रखवारे" कहते हुए भी उन्हें भारतभूमि का स्मरण हो आता है और वे यहाँ के प्राचीन गौरव की बातें कहते कहते भगवान् से यह प्रार्थना किए बिना नहीं रह सकते—

जागो हो बलि गई बिलंब न तनिक लगावहु।
चक्र सुदर्सन हाथ धारि रिपु मारि गिरावहु॥
थामहु थिर करि राज छत्र सिर अटल फिरावहु।
मूरखता दीनता कृपा करि बेग नसावहु॥
गुन बिद्या धन बल मान बहु सबै प्रजा मिलिके लहै।
जय राज-राज महराज की आनँद सों सब ही कहै॥
सब देसन की कला सिमिटि कै इतही आवै।
कर राजा नहि लेइ प्रजन पै हेत बढ़ावै॥
गाय दूध बहु देहिं तिनहि कोऊ न नसावै।
द्विजगन आस्तिक होहिं मेघ सुभ जल बरसावै॥
तजि छुद्र बासना नर सबै निज उछाह उन्नति करहिं।
कहि कृष्ण राधिकानाथ जय हमहूँ जिय आनँद भरहि॥

सारांश यह कि भारतेंदु हरिश्चंद्र के हृदय में सब अवसरों, सब अवस्थाओं और सब कालों पर अपने देश की स्मृति

जाग्रत हो उठती थी और वे उसी की भलाई की कामना निरंतर करते रहते थे। इसी देशभक्ति के भाव से प्रेरित होकर वे सब कार्यों में प्रवृत्त होते थे। यह उनका जीवन-व्यापी भाव और ध्येय था। हमारी समझ में भारतेंदुजी की इतनी महत्ता इसलिये नहीं मानी जानी चाहिए कि वे उच्च कोटि के कवि, हिंदी को नया जीवन तथा स्वरूप देनेवाले आदरणीय गद्य-लेखक, अथवा नाट्य-साहित्य की नींव रखनेवाले नाट्यकार थे, जितनी इस बात के लिये मानी जानी चाहिए कि वे भारतभूमि की हित-चिंता में निरत रहकर उसके अभ्युदय की सदा कामना करनेवाले, अपने सब कामों में उसी आदर्श को सामने रखकर कार्यक्षेत्र मे अवतीर्ण होनेवाले और उसकी सिद्धि के लिये अपने आपको तथा अपना सर्वस्व निछावर कर देनेवाले थे। देशहितैषिता ही उनका मुख्य प्रेरक भाव था, और सब बातें गौण तथा उसी मुख्य भाव की पुष्टि के लिये थीं।

भारतेंदुजी ने ३४ वर्ष और ४ महीने की आयु पाई और १६ वर्ष की आयु मे उनके सार्वजनिक जीवन का आरंभ हुआ। इस हिसाब से वे लगभग १८ वर्ष तक अपने देश की सेवा तथा अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये कार्य कर सके। इस अल्प काल ही में उन्होंने जो कुछ कर दिखाया वह उनकी स्मृति को सदा बनाए रखने के लिये आवश्यकता से अधिक है। उत्तर भारत पाश्चात्य सभ्यता और

पाश्चात्य शिक्षा के प्रवाह में बह चला था, उसमें वह इतना निमग्न हो चला था कि उसे अपने वास्तविक रूप का ज्ञान ही न रह गया था। इस प्रवाह में उसका पुराना साहित्य पीछे छूट गया था और एक प्रकार से देश की साधारण स्थिति से उसका संपर्क कम होता जाता था तथा उसकी भाषा नए नए भावों और विचारों को प्रकट करने में असमर्थ हो रही थी। ऐसी स्थिति में साहित्य के प्रवाह को देश-काल के अनुकूल बहाकर तथा भाषा को नया रूप देकर अपने देश की, अपने साहित्य की और अपनी भाषा की उन्होंने रक्षा कर ली। यद्यपि भारतेंदुजी की साहित्यिक सेवा अमूल्य थी पर उनका महत्त्व उसके कारण इतना नहीं है जितना हिंदी भाषा को संजीवनी शक्ति देकर उसे देश-काल के अनुकूल सामर्थ्य-युक्त बनाने और देश-हितैषिता के भावों को अपने देशवासियों के हृदयों मे उत्पन्न करने में था। लल्लूजी-लाल ने जिस भाषा को नया रूप दिया, लक्ष्मणसिंह ने जिसे सुधारा, उसको परिमार्जित और सुंदर साँचे में ढालने का श्रेय भारतेंदुजी को प्राप्त है। उनके समय में भी इस बात का झगड़ा चल रहा था कि हिंदी उर्दू-मिश्रित हो या नहीं। राजा शिवप्रसादजी उर्दू-मिश्रित भाषा के पक्षपाती और उर्दू शैली के पृष्ठपोषक थे। भारतेंदुजी ने इसके विरुद्ध शुद्ध हिंदी का पक्ष लिया और उसको नए साँचे में ढालकर एक नवीन शैली की स्थापना की। उनकी भाषा में माधुर्य गुण

की प्रचुरता है तथा वह प्रौढ़ता और परिमार्जितता से संपन्न है। उन्होंने स्वयं लिखा है कि 'हरिश्चंद्र मैगजीन' के उदय के साथ संवत् १९३० में हिंदी नए साँचे में ढली।

भारतेंदुजी के जीवन का उद्देश्य अपने देश की उन्नति के मार्ग को साफ-सुथरा और लंबा-चौड़ा बनाना था। उन्होंने उसके काँटों और कंकड़ों को दूर किया, उसके दोनों ओर सुंदर सुंदर क्यारियाँ बनाकर उनमें मनोरम फल-फूलों के वृत्त लगाए। इस प्रकार उसे ऐसा सुरम्य बना दिया कि भारतवासी उस पर आनंद-पूर्वक चलकर अपनी उन्नति के इष्ट स्थान पर पहुँच सकें। यद्यपि भारतेंदुजी अपने लगाए हुए वृत्तों को फल-फूलों से लदा न देख सके, फिर भी हमको यह कहने में किसी प्रकार का संकोच नहीं होता कि वे अपने जीवन के उद्देश्य में पूर्णतया सफल हुए। हिंदी भाषा और साहित्य की जो उन्नति आज देख पड़ रही है उसके मूल कारण भारतेंदुजी हैं और उन्हें ही इस उन्नति के बीज को आरोपित करने का श्रेय प्राप्त है। यदि वे उसकी भावी उन्नति का मार्ग परिष्कृत न करते, उसे सुरम्य न बनाते, तो अब तक उसका अस्तित्व हा लुप्त हो जाता और साथ ही देश के रूप-रंग मे ऐसा परिवर्त्तन हो जाता कि वह कठिनता से पहचाना जा सकता। उन्होंने अपने अध्यवसाय से, अपने स्वार्थत्याग से, अपनी प्रतिभा से, अपनी देशहितैषिता से, अपने सर्वस्व की आहुति देकर उसे स्थायी रूप दे दिया और उसे अंधकूप में

गिरने से बचा लिया। इस भारतीय आकाश के चंद्रमा को अस्त हुए आज ४२ वर्ष हो चुके पर उसकी यश-चंद्रिका ज्यों की त्यों चारों ओर अब तक छिटक रही है और जब तक इस भारत-भूमि में हिंदी भाषा, हिंदी साहित्य और हिंदी-भाषा-भाषियों का नाम रहेगा तब तक यह चंद्रिका भी नित्य नई उज्ज्वलता से छिटककर भारतीय इतिहास को उज्ज्वल और हिंदी-साहित्य-सेवियों के मार्ग को प्रकाशित कर उन्हें उत्साहित करती रहेगी—

जब लौं भारतभूमि मध्य आरजकुल बासा।
जब लौं आरज धर्म माहि आरज विश्वासा।
जब लौं गुन आगरी नागरी आरज बानी।
जब लौं आरजबानी के आरज अभिमानी।
तब लौं यह तुम्हरो नाम थिर चिरजीवी रहिहै अटल।
नित चंद सूर सम सुमिरिहैं, हरिचंदहु सज्जन सकल॥

[श्रीधर पाठक]

—श्यामसुंदरदास

(६) देश-छटा

"भूमंडल में जो आखंडल के चाप के सदृश गोलाकार है जंबूद्वीप नाम का प्रदीप, जो दीपक समान मान को पाता है, प्रसिद्ध क्षेत्र है। उसी में भारतखंड, ऐसा विचित्र मानों ब्रह्मा ने स्वयं अपने हाथों से बनाया हो, वर्त्तमान है। भारतखंड में अनेक खंड हैं पर आर्य्यावर्त्त सा मनोहर और कोई देश नहीं। पृथ्वी के अनेक द्वीप द्वीपांतर एक से एक विचित्र, जिनका चित्र ही मन को हर लेता है, वर्त्तमान हैं पर आर्य्यावर्त्त सी पुण्यभूमि न तो आंखों देखी और न कानों सुनी। इसके उत्तर भाग की सीमा में हिमालय सा ऊँचा पर्वत, जो पृथ्वी के मानदंड के सदृश है, भूलोक मात्र में दूसरा नहीं। गंगा और यमुना सी पावन नदी कहाँ हैं जिनके जल साक्षात् अमृतत्व को पहुँचानेवाले हैं। त्रिपथगा की—जो आकाश, पाताल और मर्त्य लोक को तारती है—कौन समता कर सकता है! सुरों और असुरों के मुकुट-कुसुमों की रजराजि की परिमलवाहिनी, पितामह के कमंडलु की धर्म रूपी द्रवधारा, धरातल में सैकड़ों सगर-सुतों को सुरनगर पहुँचाने की पुण्य डोरी, ऐरावत के कपोल घिसने से जिसके तट के हरिचंदन से तरुवर स्यंदन होकर सलिल को सुरभित करते हैं, लीला से जहाँ की सुर-सुंदरियों के कुच-कलशों से कंपित जिसकी

तरल तरंगें हैं, नहाते हुए सप्तर्षियों के जटाअटवी के परिमल की पुन्यवेनी—हरिण तिलक—मुकुट के विकट जटाजूट के कुहर भ्रांति के जनित संस्कार की मानों कुटिल भौंरी, जलद काल की सरसी, गंध से अंध हुई भ्रमरमाला, छंदोविचित की मालिनी, अंध तमसा रहित भी तमसा के सहित भगवती भागीरथी हिमाचल की कन्या सी जगत् को पवित्र करती हुई, नरक से नरकियों को निकारती इस असार संसार की असारता को सार करती है।

भगवान् मदनमथन के मौलि की मालती की सुमनमाला, हालाहल कंठवाले के काले बालों की विशाल जाला, पाला के पर्वत से निकलकर सहस्र कोसों बहती विष्णु से जगद्व्यापक सागर से मिलती रहती है। इसकी महिमा कौन कह सकता है। पद्माकर ने ठीक कहा है—

"जमपुर द्वारे के किवारे लगे तारे कोऊ,
हैं न रखवारे ऐसे वन के उजारे हैं।
कहै पदमाकर तिहारे प्रन धारे जेते,
करि अघ भारे सुरलोक के सिधारे हैं॥
सुजन सुखारे करे पुन्य उजियारे अति,
पतित कतारे भवसिधु ते उबारे हैं।
काहू ने न तारे तिन्हैं गंगा तुम तारे आजु,
जेते तुम तारे तेते नभ में न तारे हैं॥"

"लाए भूमिलोक तैं जसूस जबरेई जाय,

जाहिर खबर करी पापिन के मित्र की।
कहै पदमाकर विलोकि जम कही कै,
विचारो तो करम गति ऐसे अपवित्र की॥
जौ लौं लगे कागद विचारन कछुक तौ लौं,
ताके कान परी धुनि गंगा के चरित्र की।
वाके सीस ही ते ऐसी गंग धारा वही, जामें
वही वही फिरी वही चित्रहू गुपुत्र की॥"
"गंगा के चरित्र लखि भाषै जमराज ऐसे,
ए रे चित्रगुप्त मेरे हुकुम मे कान दै।
कहै पदमाकर ए नरकनि मूँदि करि,
मूँदि दरवाजन को तजि यह थान दै॥
देखु यह देवनदी कीन्हें सब देव याते,
दूतन बुलाय के विदा के वेगि पान दै।
फारि डारि फरद न राखु रोजनामा कहूँ,
खाता खत जान दै वही को वहि जान दै॥"

यम की छोटी वहिन यमुना से सख्य करने से यमराज नगर के नरकादि वंदियों की मुक्ति कराने में कुछ प्रयास नहीं होता, प्रयागराज में यमुना की सहचरी होकर इस भाव को दरसाती है। इसका समागम इस स्थल पर उनकी श्याम और सेत सारी से प्रगट होता है।

कहूँ प्रभा श्यामल, इंद्रनीली
मोती छरी सुंदर हो जरीली।

कहूँ सुमाला सित कंज-जाला
विभात इंदीवर हू रसाला ॥ १ ॥
कहूँ लसैं हंस विहंग-माला
कादंब के संगम बीच जाला।
कहूँ सु कालागुरुपत्र राजै
मनो मही चंदन शुभ्र छाजै ॥ २ ॥
कहूँ प्रभा चंदहि की विभासै
जथा तमौ छाय मिली विलासै।
उतै शरत् मेघ सुपेत लेखा
जहाँ लख्यौ अंबर छेद भेखा ॥ ३ ॥
कहूँ लपेटे भुजगो जु काले
भस्मांग सों शंकर केर भाले।
लखो पियारी बहती है गंगा
प्रवाह जाको यमुना प्रसंगा ॥ ४ ॥

इसके दक्षिण विंध्याचल सा अचल उत्तर और दक्षिण को नापता भगवान् अगस्त्य का किंकर दंडवत् करता हुआ विराजमान है। इसके पुण्य चरणों को धोती मोती की माला की नाईं मेकल-कन्यका बहती है। यह पश्चिमवाहिनी, जिसकी सबसे विलग गति है, अपनी बहिन तापती के साथ होकर विन्ध्य के कंदरो की दरी में तप करती, सूर्य के ताप से तापित, सौतों के सदृश अपने बहुवल्लभ सागर से जा मिलती है। नर्मदा के दक्षिण दंडकारण्य का एक देश दक्षिणकोशल के नाम से प्रसिद्ध है।

याही मग ह्वै कै गए दंडक बन श्री राम।
तासों पावन देश यह विंध्याटवी ललाम॥
विंध्याटवी ललाम तीर तरुवर सों छाई।
केतकि कैरव कुमुद कमल के वरन सुहाई॥
भन जगमोहन सिंह न शोभा जात सराही।
ऐसो बन रमनीय गए रघुवर मग याही॥

शाल ताल हिंताल बर सोभित तरुन तमाल।
नव कदंब अरु अंब वहु विलसत निंब विशाल॥
विलसत निंब विशाल इंगुदी अरु आमलकी।
सरो सिसपा सीसम की शोभा शुभ झलकी॥
भन जगमोहन सिंह दृगन प्रिय लगत प्रियाला।
वर जामुन कचनार सुपीपर परम रसाला॥

डोलत जहँ इत उत वहुत सारस हंस चकोर।
कूजित कोकिल तरु तरुन नाचत जहँ तहँ मोर॥
नाचत जहँ तहँ मोर शोर तमचोर मचावत।
गावत जित तित चक्रवाक विहरत पारावत॥
भन जगमोहन सिंह सारिका शुक बहु बोलत।
वक जलकुक्कुट कारंडव जहँ प्रमुदित डोलत॥

बहत महानदि, जोगिनी, शिवनद तरल तरंग।
कंक गृध्र कंचन निकर जहँ गिरि अतिहिं उतंग॥
जहँ गिरि अतिहि उतंग लसत शृंगन मन भाए।
जिन पै बहु मृग चरहिं मिष्ट तृन नीर लुभाए॥

सघन वृच्छ तरुलता मिले गहवर धर उलहत।
जिनमें सूरज किरन पत्र रंध्रन नहि निवहत॥

मैं कहाँ तक इस सुंदर देश का वर्णन करूँ। कहीं कहीं कोमल कोमल श्याम—कहीं भयंकर और रूखे सूखे वन—कहीं झरनों का झंकार—कहीं तीर्थ के आकार—मनोहर मनोहर दिखाते हैं। कहीं कोई बनैला जंतु प्रचंड स्वर से बोलता है—कहीं कोई मौन ही होकर डोलता है—कहीं विहंगमों का रोर—कहीं निष्कूजित निकुंजों के छोर—कहीं नाचते हुए मोर—कहीं विचित्र तमचोर—कहीं स्वेच्छा हार-विहार करके सोते हुए अजगर—जिनका गंभीर घोष कंदरों मे प्रतिध्वनित हो रहा है—कहीं भुजंगों की स्वास से अग्नि की ज्वाला प्रदीप्त होती है—कहीं बड़े बड़े भारी भीम भयानक अजगर सूर्य की किरणों में घाम लेते हैं जिनके प्यासे मुखों पर झरनों के कतूके पड़ते हैं—शोभित हैं।

जहाँ की निर्झरिनी—जिनके तीर वानीर के भिरे मदकल-कूजित विहंगमों से शोभित हैं—जिनके मूल से स्वच्छ और शीतल जलधारा बहती है—और जिनके किनारे के श्याम जंबू के निकुंज फल-भार से नमित जनाते हैं—शब्दायमान होकर झरती हैं।

जहाँ के गिरि-विवर कुहिरे के तिमिर से छाए हैं, इनमें से भालुनी थुत्कार करती निकलकर पुष्पों की टट्टियों के बीच प्रतिदिन विचरती दिखाई देती हैं। जहाँ के शल्लकी वृत्तों

की छाल में हाथी अपना वदन रगड़ रगड़ खुजली मिटाते हैं और उनमें से निकला क्षीर सब वन के सीतल समीर को सुरभित करता है। ये वही वन की स्थली हैं जहाँ मत्त मत्त हरिण हरिणियों समेत विचरते हैं।

मंजु वंजुलकी लता और नील निचुल के निकुंज, जिनके पत्ते ऐसे सघन जो सूर्य की किरनों को भी नहीं निकलने देते, इस नदी के तट पर शोभित हैं।

कुंज मे तम का पुंज पुंजित है, जिसमे श्याम तमाल की शाखाएँ निंब के पीत पत्रों से मिली हैं, रसाल का वृक्ष अपने विशाल हाथों को पिप्पल के चंचल प्रवालों से मिलाता है, कोई लता जंबू से लिपटकर अपनी लहराती हुई डार को सबसे ऊपर निकालती है। अशोक के ललित पुष्पमय स्तवक झूमते हैं, माधवी तुषार के सदृश पत्रों को दिखलाती है, और अनेक वृक्ष अपनी पुष्पनमित डारों से पुष्पों की वृष्टि करते हैं। सुगंध के भार से पवन मंद मंद चलता है, केवल निर्झर का रव सुनाई पड़ता है, कभी कभी कोइल का बोल दूर से सुनाता है और कलरव का कलरव निकटस्थित वृक्ष से सुनाई पड़ता है।

ऐसे दंडकारण्य के प्रदेश में भगवती चित्रोत्पला, जो नीलोत्पलों की झाड़ी और मनोहर मनोहर पहाड़ो के बीच होकर बहती है, कंकगृध्र नामक पर्वत से निकल अनेक अनेक दुर्गम विषम और असम भूमि के ऊपर से

बहुत से तीर्थों और नगरों को अपने पुण्यजल से पावन करती पूर्व समुद्र में गिरती है।

यच्छ्रीमहादेवपदद्वयम्मुहुर्महानदी स्पर्शति वै दिवानिशम्।
तदेव वन्नोरमभूत्परं शुचि नवद्वयद्वोपपुनीतकारकम्॥

इसी नदी के तीर अनेक जगली गाँव बसे हैं। वहाँ के वासी वन्य पशुओं की भाँति आचरण करने में कुछ कम नहीं हैं। पर मेरा ग्राम इन सभों से उत्कृष्ट और शिष्ट जनों से पूरित है—इसके नाम ही को सुनकर तुम जानोगे कि वह कैसा ग्राम है।" इतना कह चुप हो रही। मैंने कहा "धन्य है सुंदरी, तूने बड़ी दया की जो इतना श्रम कर इस अपावन जन के कानों को ऐसा मनोहर वर्णन सुना के पावन किया। यदि कष्ट न हो तो और सुनावो।" देवी मुसकिरा के बोली "भद्र सुनो, कहती हूँ।" इसकी मुसकिराहट ने मेरे हृदयगगन का तिमिर तुरंत ही मिटा दिया और बोली "इस पावन अभिराम ग्राम का नाम श्यामापुर है। यहाँ आम के आराम थकित पथिकों और पवित्र यात्रियों को विश्राम और आराम देते हैं—यहाँ क्षीर-सागर के भगवान् नारायण का मंदिर सुखकंदर इसी गंगा के तट पर विराजमान है। राम, लक्ष्मण और जानकी की मूरतैं सजीव सूरतैं सी झलकती हैं। ऐसा जान पड़ता है मानों अभी उठो बैठती हों। मंदिर के चारों ओर गौर उपल की छरदिवाली दिवाली की शोभा को लजाती है। मंदिर तो ऐसा जान पड़ता है मानों प्रालेय पर्वत का कंदर हो। भगवान्

रामचंद्र के सन्मुख गरुड़ की सुंदर मूर्त्ति कर-कमल जोड़े सेवा की तत्परता सुचाती है। सोने का घंटा सोने ही की साँकर में लटका धर्म के अटका सा झूलता दीन दुःखी दर्शनियों के खटका को सटकाता है। भटका भटका भी कोई यद्यपि किसी दुःख का झटका खाए हो, यहाँ आकर विराम पाता है, और मनोरंजन दुःखभंजन खंजन-गंजन विलोल-विलोचनी जनकदुलारी के कृपा-कटाक्ष को देखते ही सब दुःख दारिद्र छुटाता है। राम और लक्ष्मण की शोभा कौन कह सकता है—

"सोभा सीँव सुभग दोउ वीरा। नील पीत जलजात सरीरा॥
मोर पंख सिर सोहत नीके। गुच्छे विच विच कुसुम-कली के॥
भाल तिलक श्रमबिंदु सुहाए। श्रवणसुभग भूषण छवि छाए॥
विकट भृकुटि कच घूँघरवारे। नव सरोज लोचन रतनारे॥
चारु चिबुक नासिका कपोला। हास विलास लेत मन मोला॥
मुखछवि कहि न जाय मो पाँहीं। जो विलोकि बहु काम लजाहीं॥
उर मणिमाल कंबु कल ग्रीवा। काम कलभ कर भुज बल सीवा॥

राजत राजसमाज महँ कोशल राजकिशोर।
सुंदर श्यामल गौर तनु विश्व विलोचन चोर॥

शरद चंद्र निंदक मुख नीके। नीरज नैन भावते जीके॥
चितवनि चारु मार मन हरनी। भावति हृदय जाति नहि बरनी॥
कल कपोल श्रुति कुंडल लोला। चिबुक अधर सुंदर मृदु बोला॥
कुमुदबंधुकर-निंदक हासा। भृकुटी विकट मनोहर नासा॥

भाल विशाल तिलक झलकाहीं। कच बिलोकि अलि-अवलि लजाहीं॥
पीत चौतनी सिरन सुहाई। कुसुम-कली बिच बीच बनाई॥
रेखैं रुचिर कंबु कल ग्रीवा। जनु त्रिभुवन सुखमा की सीवा॥

कुंजर मणि कंठा कलित उर तुलसी की माल।
वृषभ कंध केहरि ठवनि बलनिधि बाहु विशाल॥"

ऐसा सुंदर ग्राम जिसमें श्यामसुंदर स्वयं विराजमान हैं—मेरा जन्मस्थान था। बाग भी राग और विराग दोनों देता है। देवालयों की अवली नदी के तीर पर परछाहीं फेकती है—ऐसा जान पड़ता है कि जितने ऊँचे कँगूरों से वह अंबर को छूती है उसी भाँति पाताल की गहराई भी नापती है—जहाँ विचित्र पांथशाला—बाला और बालक पाठशाला—न्यायाधीश और प्रबंधकों के आगार—बनियों का व्यापार जिनके द्वारे फूलों के हार टँगे हैं जहाँ के राजपथों पर व्योपारियों की भीर, सदैव गंभीर सागर सी बनी रहती है, चित्त पर ऐसा असर करती है जो लिखने के बाहर है।

चौड़े चौड़े राजपथ संकीर्ण वीथी अमराइयाँ और नदी के तट सब अभिसारिकों का झपेट अनंगरंग का लपेट संपन्न जनों का दपेट सबका सब मन को प्रफुल्लित करता है।

पुराने टूटे फूटे दिवाले इस ग्राम की प्राचीनता के साची हैं। ग्राम के सीमांत के झाड़, जहाँ झुंड के झुंड कौवे और बकुले बसेरा लेते हैं, गवँई की शोभा बताते हैं।

प्यौ फटते और गोधूली के समय गैयों के खिरके की शोभा जिनके खुरों से उड़ी धूल ऐसी गलियों में छा जाती है मानों कुहिरा गिरता हो। ये भी ग्राम मे एक अभिसार का अच्छा समय होता है।
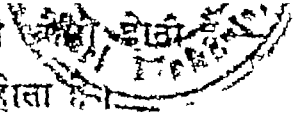
"गोप अथाइन तें उठे गोरज छाई गैल।
चलु न अली अभिसार की भली सभ्कोखी सैल ॥"

यहाँ के कोविद भरथरी—गोपीचंद—भोज—विक्रम (जिसे 'विकरमाजीत' कहते हैं)—लोरिक और चदैंनी—मीराबाई—आल्हा—ढोला मारू—हरदौल इत्यादिकों की कथा के रसिक हैं—ये वेचारे सीधे साधे बुड्ढे जाड़े के दिनों में किसी गरम कौड़े के चारों ओर प्याँर बिछा बिछा के अपने परिजनों के साथ युवती और वृद्धा वालक और बालिका युवा और वृद्ध सबके सब वैठ कथा कह कह दिन बिताते हैं।

कोई पढ़ा लिखा पुरुष रामायण और ब्रजविलास की पोथी बाँचकर टेढ़ा-मेढ़ा अर्थ कह सभों में चतुर बन जाता है। ठीक है "निरस्तपादपे देशे एरंडोऽपि द्रुमायते"।

कोई लड़ाई का हाल कहते कहते वेहाल हो जाता है—कोई किसी प्रेम-कहानी को सुन किसी की प्रबल विरह-वेदना को अनुभव कर आँसू भर लेता है—कोई इन्हें मूर्ख ही समझ-कर हँस देता है। अहीर अहीरिनों के प्रश्नोत्तर साल्हो मे

हुआ करते हैं। यह भोली कविता भी कैसी होती है! अनुप्रास भी कैसा इन ग्रामीणों को सुखद होता है—

''देख बुढ़ौना के गोठ परोसिन भोला कथे चल कोलामा''

फरसा।

आमा डार कोइली सुवा बोले कागा—धुप—परी में लाल—
भाजी छानी मा आदा तेर गुटियारी मजा भेंगे राजा—''

नामा।

—राजा जगमोहनसिंह

(१०) कविता क्या है ?

कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह होता है। राग से यहाँ अभिप्राय प्रवृत्ति और निवृत्ति के मूल में रहनेवाली अंतःकरण-वृत्ति से है। जिस प्रकार निश्चय के लिये प्रमाण की आवश्यकता होती है उसी प्रकार प्रवृत्ति या निवृत्ति के लिये भी कुछ विषयों का वाह्य या मानस प्रत्यक्ष अपेक्षित होता है। यही हमारे रागों या मनोवेगों के—जिन्हें साहित्य में भाव कहते हैं—विषय हैं। कविता उन मूल और आदिम मनोवृत्तियों का व्यवसाय है जो सजीव सृष्टि के बीच सुख दुःख की अनुभूति से विरूप परिणाम द्वारा अत्यंत प्राचीन कल्प में प्रकट हुईं और जिनके सूत्र से शेष सृष्टि के साथ तादात्म्य का अनुभव मनुष्य-जाति आदि-काल से करती चली आई है। वन, पर्वत, नदी, नाले, निर्झर, कछार, पटपर, चट्टान, वृक्ष, लता, झाड़, पशु, पक्षी, अनंत आकाश, नक्षत्र इत्यादि तो मनुष्य के आदिम सहचर हैं ही पर खेत, ढुर्री, हल, झोंपड़े, चौपाए आदि भी कुछ कम पुराने नहीं हैं। इनके द्वारा प्राप्त रागात्मक संस्कार मानव अंतःकरण में दीर्घपरंपरा के कारण मूल रूप से बद्ध हैं अतः इनके द्वारा जैसा पक्का रसपरिपाक संभव है वैसा कल, कारखाने, गोदाम, स्टेशन, एंजिन, हवाई जहाज इत्यादि द्वारा नहीं।

रागों या वेगस्वरूप मनोवृत्तियों का सृष्टि के साथ उचित सामंजस्य स्थापित करके कविता मानव जीवन के व्यापकत्व की अनुभूति उत्पन्न करने का प्रयास करती है। यदि इन वृत्तियों को समेटकर मनुष्य अपने अंतःकरण के मूल रागात्मक अंश को सृष्टि से किनारे कर ले तो फिर उसके जड़ हो जाने में क्या संदेह है ? यदि वह लहलहाते हुए खेतों और जंगलों, हरी घास के बीच घूम घूमकर बहते हुए नालों, काली चट्टानों पर चाँदी की तरह ढलते हुए झरनों, मंजरियों से लदी हुई अमराइयों, पटपर के बीच खड़े झाड़ों को देख क्षण भर लीन न हुआ, यदि कलरव करते हुए पक्षियों के आनंदोत्सव में उसने योग न दिया, यदि खिले हुए फूलों को देख वह न खिला, यदि सुंदर रूप देख पवित्र भाव से मुग्ध न हुआ, यदि दीन दुखी का आर्त्तनाद सुन न पसीजा, यदि अनाथों और अबलाओं पर अत्याचार होते देख क्रोध से न तिलमिलाया, यदि हास्य की अनूठी उक्ति पर न हँसा तो उसके जीवन में रह क्या गया ? ज्यों ज्यों मनुष्य के व्यापार का क्षेत्र जटिल और सघन होता गया त्यों त्यों सृष्टि के साथ उसके रागात्मक संबंध के विच्छेद की आशंका बढ़ती गई। ऐसी स्थिति में बड़े बड़े कवि ही उसे सँभालते आए हैं।

जो कुछ अब तक कहा गया उससे यह स्पष्ट है कि सृष्टि के नाना रूपों के साथ मनुष्य की भीतरी रागात्मिका प्रकृति का सामंजस्य ही कविता का लक्ष्य है। वह जिस प्रकार

प्रेम, क्रोध, करुणा, घृणा आदि मनोवेगों या भावों पर सान चढ़ाकर उन्हें तीक्ष्ण करती है उसी प्रकार जगत् के नाना रूपों और व्यापारों के साथ उनका उचित संबंध स्थापित करने का भी उद्योग करती है। इस बात का निश्चय हो जाने पर वे सब मतभेद दूर हो जाते हैं जो काव्य के नाना लक्षणों और विशेषत: रस आदि के भेद-प्रतिबंधों के कारण चल पड़े हैं। ध्वनि संप्रदायवालों का नैयायिकों से उलझना, आलंकारिकों का रसप्रतिपादकों से झगड़ना एक पतली गली में बहुत से लोगों का धक्कमधक्का करने के समान है। "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" में कुछ लोगों को जो अव्याप्ति दिखाई पड़ी है वह नौ भेदों के कारण। रस के नौ भेदों की लीक के भीतर सृष्टि के बहुत थोड़े से अंश के वर्णन के लिये शृंगार के उद्दीपन विभाव के अंतर्गत उन्हें थोड़ी सी जगह दिखाई पड़ी। हमारे पिछले खेवे के हिंदी कवियों ने तो उतने ही पर संतोष किया। रीति के अनुसार 'षट् ऋतु' के अंतर्गत कुछ इनी-गिनी वस्तुओं को लेकर कभी नायिका को हर्ष से पुलकित करके और कभी विरह से विकल करके वे चलते हुए।

बात यह है कि आरंभ में कहे हुए काव्य के व्यापक आदर्श से जिस समय संस्कृत काव्य च्युत हो चुका था उस समय हिंदी काव्य अग्रसर हुआ, इससे उसमें सृष्टि-वर्णन का व्यापक समावेश न होने पाया। यह कमी केशव की लीक पीटनेवाले 'कविंदों' मे हा नहीं है, उनसे पहले के वास्तविक

काव्य, महाकाव्य, आख्यान काव्य रचनेवाले बड़े बड़े कवियों मे भी पाई जाती है। वाल्मीकि के वर्षा और शरद के विशद वर्णन को गो० तुलसीदासजी के वर्णनों से मिलाने से यह बात समझ में आ जायगी। कहाँ—

क्वचित्प्रकाशं क्वचिदप्रकाशं
नभ: प्रकीर्णाम्बु घनं विभाति।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

और

व्यामिश्रितं सर्जकदंबपुष्पै-
र्नवं जलं पर्वतधातुताम्रम्।
मयूरकेकाभिरनुप्रयातं
शैलापगा: शीघ्रतरं वहंति॥

और कहाँ—

बरषहिं जलद भूमि नियराए।
यथा नवहि बुध विद्या पाए॥
दामिनि दमक रही घन माहीं।
खल की प्रीति यथा थिर नाहीं॥

कहाँ प्रकृति का वह सूक्ष्म निरीक्षण कहाँ उदाहरण की ओर यह टूटना। बाबाजी की दृष्टि 'यथा नवहि बुध विद्या पाए' इस उपदेशात्मक वाक्य की ओर अधिक जान पड़ती है, वस्तु वर्णन की ओर कम। भारतेंदु का गंगा और यमुना-वर्णन अच्छा कहा जाता है पर वह भी परंपराभुक्त और उपमा-प्रधान है।

हिंदीवाले चाहे ऐसे वर्णनों से अपना संतोष कर लें पर जिनकी आँखों के सामने कुमारसंभव का हिमालयवर्णन और मेघदूत का नाना प्रदेशवर्णन नाच रहा था वे स्पष्ट देख सके कि प्रकृति का वह सूक्ष्म निरीक्षण शृंगार के उद्दीपन विभाव की दृष्टि से नहीं है शुद्ध वर्णन के निमित्त, दृश्य अंकित करने के निमित्त है। उन्होंने रस की नौ नालियों के भीतर ऐसे शुद्ध वर्णनों के लिये कोई गड्ढा न पाकर 'रसात्मकं वाक्यम्' से असंतोष प्रकट किया। पर असंतोष नाली बनानेवालों के प्रति होना चाहिए था, रस के सिद्धांत के प्रति नहीं। प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में एक प्रकार का रस अवश्य है चाहे उसे अनिर्वचनीय कहिए, चाहे उसका कोई नाम रखिए, चाहे उसे किसी रस के भीतर कीजिए।

कार्य में प्रवृत्ति

यदि क्रोध, करुणा, दया, प्रेम आदि मनोभाव मनुष्य के अंतःकरण से निकल जायँ तो वह कुछ भी नहीं कर सकता। कविता हमारे मनोभावों को उच्छ्वसित करके हमारे जीवन में एक नया जीवन डाल देती है; हम सृष्टि के सौंदर्य को देखकर मोहित होने लगते हैं; कोई अनुचित या निष्ठुर काम हमें असह्य होने लगता है, हमें जान पड़ता है कि हमारा जीवन कई गुना अधिक होकर समस्त संसार में व्याप्त हो गया है। इस प्रकार कविता की प्रेरणा से कार्य में प्रवृत्ति बढ़ जाती है। केवल विवेचना के बल से हम किसी कार्य में बहुत कम प्रवृत्त

होते हैं। केवल इस बात को जानकर ही हम किसी काम के करने या न करने के लिये प्रायः तैयार नहीं होते कि वह काम अच्छा है या बुरा, लाभदायक है या हानिकारक। जब उसकी या उसके परिणाम की कोई ऐसी बात हमारे सामने उपस्थित हो जाती है जो हमे आह्लाद, क्रोध, करुणा आदि से विचलित कर देती है तभी हम उस काम को करने या न करने के लिये प्रस्तुत होते हैं। केवल बुद्धि हमें काम करने के लिये उत्तेजित नहीं करती। काम करने के लिये मन ही हमको उत्साहित करता है। अतः कार्य-प्रवृत्ति के लिये मन में वेग का आना आवश्यक है। यदि किसी जन-समुदाय के बीच कहा जाय कि अमुक देश तुम्हारा इतना रुपया प्रतिवर्ष उठा ले जाता है; इसी से तुम्हारे यहाँ अकाल और दारिद्र्य बना रहा है, तो संभव है कि उस पर कुछ प्रभाव न पड़े। पर यदि दारिद्र्य और अकाल का भीषण दृश्य दिखाया जाय, पेट की ज्वाला से जले हुए प्राणियों के अस्थिपंजर कल्पना के सम्मुख रखे जायँ, और भूख से तड़पते हुए बालक के पास बैठी हुई माता का आर्त्त स्वर सुनाया जाय तो बहुत से लोग क्रोध और करुणा से विह्वल हो उठेंगे और इन बातों को दूर करने का यदि उपाय नहीं तो संकल्प अवश्य करेंगे। पहले प्रकार की बात कहना राज-नीतिज्ञ का काम है और पिछले प्रकार का दृश्य दिखाना कवि का कर्त्तव्य है। मानव-हृदय पर दोनों में से किसका अधिकार अधिक हो सकता है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं।

स्वभाव-संशोधन

कविता के द्वारा हम संसार के सुख, दुःख, आनंद और क्लेश आदि यथार्थ रूप से अनुभव करने में अभ्यस्त होते हैं जिससे हृदय की स्तब्धता हटती है और मनुष्यता आती है। किसी लोभी और कंजूस दूकानदार को देखिए जिसने लोभ के वशीभूत होकर क्रोध, दया, भक्ति, आत्माभिमान आदि मनोविकारों को दबा दिया है और संसार के सब सुखों से मुँह मोड़ लिया है। अथवा किसी महाक्रूर राजकर्मचारी के पास जाइए जिसका हृदय पत्थर के समान जड़ और कठोर हो गया है, जिसे दूसरे के दुःख और क्लेश का अनुभव स्वप्न में भी नहीं होता। ऐसा करने से आपके मन मे यह प्रश्न अवश्य उठेगा कि क्या इनकी भी कोई दवा है। ऐसे हृदयों को द्रवीभूत करके उन्हें अपने स्वाभाविक धर्म पर लाने का सामर्थ्य काव्य ही मे है। कविता ही उस दूकानदार की प्रवृत्ति को भौतिक और आध्यात्मिक सृष्टि के सौंदर्य की ओर ले जायगी; कविता ही उसका ध्यान औरों की आवश्यकताओं की ओर आकर्षित करेगी और उनकी पूर्ति करने की इच्छा उत्पन्न करेगी; कविता ही उसे उचित अवसर पर क्रोध, दया, भक्ति, आत्माभिमान आदि सिखावेगी। इसी प्रकार उस राजकर्मचारी के सामने कविता ही उसके कार्यों का प्रतिबिंब खींचकर रखेगी और उनकी जघन्यता और भयंकरता का आभास दिखलावेगी; तथा दैवी किंवा अन्य मनुष्यों द्वारा पहुँचाई हुई पीड़ा और क्लेश

के सूक्ष्म से सूक्ष्म अंश को दिखलाकर उसे दया दिखाने का अभ्यास कराएगी।

मनोरंजन

प्राय: लोग कहा करते हैं कि काव्य का मुख्य उद्देश्य मनोरंजन है। पर मेरी समझ में केवल मनोरंजन उसका साध्य नहीं है। कविता पढ़ते समय मनोरंजन अवश्य होता है, पर उसके उपरांत कुछ और भी होता है। मनोरंजन करना कविता का वह प्रधान गुण है जिससे वह मनुष्य के चित्त को अपना प्रभाव जमाने के लिये वश में किए रहती है, उसे इधर उधर जाने नहीं देती। यही कारण है कि नीति और धर्म-संबंधी उपदेश चित्त पर वैसा असर नहीं करते जैसा कि काव्य या उपन्यास से निकली हुई शिक्षा असर करती है। केवल यही कहकर कि "परोपकार करो", "सदैव सच बोलो", "चोरी करना महा पाप है" हम यह आशा कदापि नहीं कर सकते कि कोई अपकारी मनुष्य परोपकारी हो जायगा, झूठा सच्चा हो जायगा, और चोर चोरी करना छोड़ देगा। क्योंकि पहले तो मनुष्य का चित्त ऐसी सूखी शिक्षाएँ ग्रहण करने के लिये उद्यत ही नहीं होता; दूसरे मानव-जीवन पर उनका कोई प्रभाव अंकित न देखकर वह उनकी कुछ परवा नहीं करता। पर कविता अपनी मनोरंजक शक्ति के द्वारा पढ़ने या सुनने-वाले का चित्त उचटने नहीं देती, उसके हृदय के मर्म-स्थानों को स्पर्श करती है, और सृष्टि में उक्त कर्मों के स्थान और

संबंध की सूचना देकर मानव-जीवन पर उनके प्रभाव और परिणाम विस्तृत रूप से अंकित करके दिखलाती है। इंद्रासन खाली कराने का वचन देकर, हूर और गिलमा का लालच दिखाकर, यमराज का स्मरण दिलाकर, दोजख की जलती हुई आग की धमकी देकर हम बहुधा किसी मनुष्य को सदाचारी और कर्त्तव्य-परायण नहीं बना सकते। बात यह है कि इस तरह का लालच या धमकी ऐसी है जिससे मनुष्य परिचित नहीं और जो इतनी दूर की है कि उसकी परवा करना मानव प्रकृति के विरुद्ध है। सदाचार में एक अलौकिक सौंदर्य और माधुर्य होता है। अतः लोगों को सदाचार की ओर आकर्षित करने का प्रकृत उपाय यही है कि उनको उसका सौंदर्य और माधुर्य दिखाकर लुभाया जाय, जिससे वे बिना आगा-पीछा सोचे मोहित होकर उसकी ओर ढल पड़ें।

मन को अनुरंजित करना और उसे सुख पहुँचाना ही यदि कविता का धर्म माना जाय तो कविता भी केवल विलास की सामग्री हुई। परंतु क्या हम कह सकते हैं कि वाल्मीकि का आदि-काव्य, कालिदास का मेघदूत, तुलसीदास का रामचरित-मानस या सूरदास का सूरसागर विलास की सामग्री है? यदि इन ग्रंथों से मनोरंजन होगा तो चरित्र-संशोधन भी अवश्य ही होगा। मन लगने से यह सूचित होगा कि मन अब इस अवस्था मे हो गया है कि उस पर कोई प्रभाव डाला जाय। खेद के साथ कहना पड़ता है कि हिंदी भाषा के अनेक कवियों

ने शृंगार रस की उन्मादकारिणी उक्तियों से साहित्य को इतना भर दिया है कि कविता भी विलास की एक सामग्री समझी जाने लगी है। पीछे से तो ग्रीष्मोपचार आदि के नुसखे भी कवि लोग तैयार करने लगे।

गरमी के मौसिम के लिये एक कविजी आज्ञा करते हैं—

सीतल गुलाबजल भरि चहबच्चन में,
डारि कै कमलदल न्हायबे को धँसिए।
कालिदास अंग अंग अगर अतर संग,
केसर उसीर नीर घनसार घसिए।
जेठ में गोविंदलाल चंदन के चहलन,
भरि भरि गोकुल के महलन बसिए।

अब शिशिर के मसाले सुनिए—

गुलगुली गिलमें गलीचा हैं गुनीजन हैं,
चिक हैं चिराकैं हैं चिरागन की माला हैं।
कहैं पदमाकर हैं गजक गजा हू सजी,
शय्या हैं, सुरा है, सुराही है, सुप्याला है।
शिशिर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्हैं,
जिनके अधीन एते उदित मसाला हैं।

ऐसी शृंगारिक कविता को कोई विलास की सामग्री कह बैठे तो उसका क्या दोष ? सारांश यह कि कविता का काम मनोरंजन ही नहीं, कुछ और भी है।

चरित्र-चित्रण द्वारा जितनी सुगमता से शिक्षा दी जा सकती है उतनी सुगमता से किसी और उपाय द्वारा नहीं। आदि-काव्य रामायण मे जब हम भगवान् रामचंद्र के प्रतिज्ञा-पालन, सत्यव्रताचरण और पितृभक्ति आदि की छटा देखते हैं; भरत के सर्वोच्च स्वार्थत्याग और सर्वांगपूर्ण सात्त्विक चरित का अलौकिक तेज देखते हैं, तब हमारा हृदय श्रद्धा, भक्ति और आश्चर्य से स्तंभित हो जाता है। इसके विरुद्ध जब हम रावण की दुष्टता और उद्दंडता का चित्र देखते हैं तब समझते हैं कि दुष्टता क्या चीज है और उसका प्रभाव और परिणाम सृष्टि में क्या है। अब देखिए कविता द्वारा कितना उपकार होता है। उसका काम भक्ति, श्रद्धा, दया, करुणा, क्रोध और प्रेम आदि मनोवेगों को तीव्र और परिमार्जित करना तथा सृष्टि की वस्तुओं और व्यापारों से उनका उचित और उपयुक्त संबंध स्थिर करना है।

उच्च आदर्श

कविता मनुष्य के हृदय को उन्नत करती है और ऐसे ऐसे उत्कृष्ट और अलौकिक पदार्थों का परिचय कराती है जिनके द्वारा यह लोक देवलोक और मनुष्य देवता हो सकता है।

कविता की आवश्यकता

कविता इतनी प्रयोजनीय वस्तु है कि संसार को सभ्य और असभ्य सभी जातियों में पाई जाती है। चाहे इतिहास न हो, विज्ञान न हो, दर्शन न हो, पर कविता अवश्य होगी।

इसका क्या कारण है ? बात यह है कि मनुष्य अपने ही व्यापारों का ऐसा घना मंडल बाँधता चला आ रहा है जिसके भीतर फँसकर वह शेष सृष्टि के साथ अपने हृदय का संबंध कभी कभी नहीं रख सकता। इस बात से मनुष्य की मनुष्यता जाती रहने का डर रहता है। अतएव मानुषी प्रकृति को जाग्रत रखने के लिये कविता मनुष्य जाति के संग लग गई है। कविता यही प्रयत्न करती है कि शेष प्रकृति से मनुष्य की दृष्टि फिरने न पावे। जानवरों को इसकी जरूरत नहीं। हमने किसी उपन्यास में पढ़ा है कि एक चिड़चिड़ा बनिया अपनी सुशीला और परम रूपवती पुत्रवधू को अकारण निकालने का उद्यत हुआ। जब उसके पुत्र ने अपनी स्त्री की ओर से कुछ कहा तो वह चिढ़कर बोला "चल चल ! भोली सूरत पर मरा जाता है"। आह ! यह कैसा अमानुषिक बर्ताव है ! सांसारिक बंधनों में फँसकर मनुष्य का हृदय कभी कभी इतना कठोर और कुंठित हो जाता है कि उसकी चेतनता—उसका मानुष भाव—कम हो जाता है। न उसे किसी का रूप-माधुर्य देखकर उस पर उपकार करने की इच्छा होती है, न उसे किसी दीन दुखिया की पीड़ा देखकर करुणा आती है; न उसे अपमानसूचक बात सुनकर क्रोध आता है। ऐसे लोगों से यदि किसी लोमहर्षण अत्याचार की बात कही जाय तो, मनुष्य के स्वाभाविक धर्मानुसार, वे क्रोध या घृणा प्रकट करने के स्थान पर रुखाई के साथ यही कहेंगे "जाने दो; हमसे क्या मतलब,

चलो अपना काम देखो"। याद रखिए, यह महा भयानक मानसिक रोग है। इससे मनुष्य जीते जी मृतवत् हो जाता है। कविता इसी मर्ज की दवा है।

सृष्टि-सौंदर्य

कविता सृष्टि-सौंदर्य का अनुभव कराती है और मनुष्य को सुंदर वस्तुओं में अनुरक्त और कुत्सित वस्तुओं से विरक्त करती है। कविता जिस प्रकार विकसित कमल, रमणी के मुख आदि का सौंदर्य चित्त में अंकित करती है उसी प्रकार औदार्य, वीरता, त्याग, दया इत्यादि का सौंदर्य भी दिखाती है। जिस प्रकार वह रौरव नरक और गंदी गलियों की वीभत्सता दिखाती है उसी प्रकार क्रूरों की हिंसावृत्ति और दुष्टों की ईर्ष्या आदि की जघन्यता भी। यहीं तक नहीं, जिन वृत्तियों का प्रायः बुरा रूप ही हम संसार में देखा करते हैं उनका सुंदर रूप भी वह अलग करके दिखाती है। दशवदन-निधनकारी राम के क्रोध के सौंदर्य पर कौन मोहित न होगा? जो कविता रमणी के रूप-माधुर्य से हमें आह्लादित करती है वही उसके अंतःकरण की सुंदरता और कोमलता आदि की मनोहारिणी छाया दिखाकर मुग्ध भी करती है। जिस बंकिम की लेखनी ने गढ़ के ऊपर बैठी हुई राजकुमारी तिलोत्तमा के अंग प्रत्यंग की शोभा को अंकित किया है उसी ने आयशा के अंतःकरण की अपूर्व सात्त्विकी ज्योति दिखाकर पाठकों को चमत्कृत किया है। बाह्य सौंदर्य के अवलोकन से हमारी आत्मा

को जिस प्रकार संतोष होता है उसी प्रकार मानसिक सौंदर्य से भी। जिस प्रकार वन, पर्वत, नदी, झरने आदि से हम आह्लादित होते हैं उसी प्रकार मानसिक अंतःकरण में प्रेम, स्वार्थत्याग, दया, दाक्षिण्य, करुणा, भक्ति आदि उदात्त वृत्तियों को प्रतिष्ठित देख हम आनंदित होते हैं। यदि इन दोनों बाह्य और आभ्यंतर सौंदर्यों का कहीं संयोग दिखाई पड़े तो फिर क्या कहना है। यदि किसी अत्यंत सुंदर पुरुष या अत्यंत रूपवती स्त्री के रूप मात्र का वर्णन करके हम छोड़ दें तो चित्र अपूर्ण होगा; किंतु यदि हम साथ ही हृदय की दृढ़ता और सत्यप्रियता अथवा कोमलता और स्नेह-शीलता आदि की भी झलक दिखाएँ तो उस वर्णन में सजीवता आ जायगी।

बात यह है कि कविता सौंदर्य और सात्त्विकशीलता या कर्त्तव्यपरायणता में भेद नहीं देखा चाहती। इसी से उत्कर्ष-साधन के लिये कवियों ने प्रायः रूप-सौंदर्य और अंतःकरण के सौंदर्य का मेल कराया है। राम का रूप-माधुर्य और रावण का विकराल रूप अंतःकरण के प्रतिबिंब मात्र हैं। बाह्य प्रकृति को भी मिला लेने से वर्णन का प्रभाव कभी कभी बहुत बढ़ जाता है। चित्रकूट ऐसे रम्य स्थान मे राम और भरत ऐसे रूपवानों के रम्य अंतःकरण की छटा का क्या कहना है!

कविता का दुरुपयोग

जो लोग स्वार्थवश व्यर्थ की प्रशंसा और खुशामद करके वाणी का दुरुपयोग करते हैं वे सरस्वती का गला घोंटते हैं।

ऐसी तुच्छ वृत्तिवालों को कविता न करनी चाहिए। कविता उच्चाशय, उदार और निःस्वार्थ हृदय की उपज है। सत्कवि मनुष्य मात्र के हृदय मे सौंदर्य का प्रवाह वहानेवाला है। उसकी दृष्टि मे राजा और रंक सब समान हैं। वह उन्हें मनुष्य के सिवा और कुछ नहीं समझता। जिस प्रकार महल में रहने-वाले बादशाह के वास्तविक सद्गुणों की वह प्रशंसा करता है उसी प्रकार झोंपड़े में रहनेवाले किसान के सद्गुणों की भी। श्रीमानों के शुभागमन की कविता लिखना—और बात बात पर उनको वधाई देना—सत्कवि का काम नहीं। हाँ, जिसने निःस्वार्थ होकर और कष्ट सहकर देश और समाज की सेवा की है, दूसरों का हित-साधन किया है, धर्म का पालन किया है ऐसे परो-पकारी महात्मा का गुणगान करना उसका कर्त्तव्य है।

कविता की भाषा

मनुष्य स्वभाव ही से प्राचीन पुरुषों और वस्तुओं को श्रद्धा की दृष्टि से देखता है। पुराने शब्द हम लोगों को मालूम ही रहते हैं। इसी से कविता में कुछ न कुछ पुराने शब्द आ ही जाते हैं। उनका थोड़ा बहुत वना रहना अच्छा भी है। वे आधुनिक और पुरातन कविता के वीच संवंध-सूत्र का काम देते हैं। हिंदी में "राजते हैं", "गहते हैं", "लहते हैं", "सरसाते हैं", आदि प्रयोगों का खड़ी बोली तक की कविता में वना रहना कोई अचंभे की बात नहीं। अँगरेजी कविता में भी ऐसे शब्दों का अभाव नहीं है जिनका व्यवहार बहुत पुराने

जमाने से कविता में होता आया है। 'Main,' 'Swain' आदि शब्द ऐसे ही हैं। अँगरेजी कविता समझने के लिये इनसे परिचित होना पड़ता है। पर ऐसे शब्द बहुत थोड़े आने चाहिएँ; वे भी ऐसे जो भद्दे और गवाँरू न हों। खड़ी बोली मे संयुक्त क्रियाएँ बहुत लंबी होती हैं; जैसे--"लाभ करते हैं", "प्रकाश करते हैं" आदि। कविता मे इनके स्थान पर "लहते हैं", प्रकाशते हैं" कर देने से कोई हानि नहीं। पर यह बात इस तरह के सभी शब्दों के लिये ठीक नहीं हो सकती।

कविता में कही गई बात चित्र रूप मे हमारे सामने आती है, संकेत रूप में नहीं। अतः उसमें गोचर रूपों का ही विधान अधिकतर होता है। वह ऐसे ही व्यापारों को लेती है जो संसार में सबसे अधिक मनुष्यों को सबसे अधिक दिखाई पड़ते हैं। उसमें प्रत्यक्ष और स्वभावसिद्ध व्यापार-सूचक शब्दों की संख्या अधिक रहती है। "समय बीता जाता है" कहने की अपेक्षा "समय भागा जाता है" कहना अधिक काव्य-सम्मत है। किसी काम से हाथ खींचना, किसी का रुपया खा जाना, कोई बात पी जाना, दिन ढलना या डूबना, मन मारना, मन छूना, शोभा बरसना, आदि ऐसे ही कविसमय-सिद्ध वाक्य हैं जो बोलचाल में आ गए हैं। नीचे कुछ पद्य उदाहरण-स्वरूप दिए जाते हैं।

(क) धन्य भूमि वन पंथ पहारा।
जहँ जहँ नाथ **पाँव तुम धारा**॥—तुलसीदास।

(ख) मनहुँ उमगि अँग अँग छवि **छलकै** ।—तुलसी ।

(ग) चूनरि चारु चुई **सी परै** चटकीली हरी अँगिया ललचावे ।

(घ) बीथिन में ब्रज में नवेलिन में बेलिन में बनन में बागन में **बगरो** बसंत है ।—पद्माकर ।

(ङ) रंग रंग रागन पै, संग ही परागन पै, वृंदावन बागन पै, बसंत **बरसो** परै ।

बहुत से ऐसे शब्द हैं जिनसे एक ही का नहीं किंतु कई क्रियाओं का एक ही साथ बोध होता है । ऐसे शब्दों को हम मिश्रसंकेत कह सकते हैं । किसी ने कहा 'वहाँ बड़ा अत्याचार हो रहा है' इस अत्याचार शब्द के अंतर्गत मारना पीटना, डाटना डपटना, लूटना पाटना इत्यादि बहुत से व्यापार हो सकते हैं अत: 'अत्याचार' शब्द के सुनने से उन सब व्यापारों का एक मिला जुला अस्पष्ट भाव अंत:करण में आता है, कल्पना में किसी एक व्यापार का स्पष्ट चित्र अंकित नहीं होता । इससे यह शब्द कविता के उतने काम का नहीं है । ऐसे शब्द वैज्ञानिक विषयों मे अधिक आते हैं। उनमें से कुछ शब्द तो एक विलक्षण ही अर्थ देते हैं और पारिभाषिक कहलाते हैं। विज्ञानवेत्ता को किसी बात की सत्यता या असत्यता के निर्णय की जल्दी रहती है । इससे वह कई बातों को एक मानकर अपना काम चलाता है; प्रत्येक काम को पृथक् पृथक् दृष्टि से नही देखता । यही कारण है जो वह ऐसे शब्द अधिक व्यव-

हार करता है जिनसे कई क्रियाओं से घटित एक ही भाव का अर्थ निकलता है। परंतु कविता प्राकृतिक व्यापारों को कल्पना द्वारा प्रत्यक्ष कराती है—मानव-हृदय पर अंकित करती है। अतएव पूर्वोक्त प्रकार के शब्द अधिक लाने से कविता के प्रसाद गुण की हानि होती है और व्यक्त किए गए भाव हृदय पर अच्छी तरह अंकित नहीं होते। बात यह है कि मानवी कल्पना इतनी प्रशस्त नहीं कि एक ही बार में कई व्यापार उसके द्वारा हृदय पर स्पष्ट रीति से खचित हो सकें। यदि कोई ऐसा शब्द प्रयोग में लाया गया जो कई संयुक्त व्यापारों का बोधक है तो, संभव है, कल्पना-शक्ति किसी एक व्यापार को भी न ग्रहण कर सके; अथवा तदंतर्गत कोई ऐसा व्यापार ग्रहण करे जो रागात्मिका प्रकृति का उद्दीपक न हो। तात्पर्य्य यह कि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग, तथा ऐसे शब्दों का समावेश जो कोई संयुक्त व्यापारों की सूचना देते हैं, कविता में वांछित नहीं।

किसी ने "प्रेम फौजदारी" नाम की शृंगार-रस-विशिष्ट एक छोटी सी कविता अदालती कार्रवाइयों पर घटाकर लिखी है और उसे "एकतरफा डिगरी" आदि कानूनी शब्दों से भर दिया है। यह उचित नहीं। कविता का उद्देश इसके विपरीत व्यवहार से सिद्ध होता है। जब कोई कवि किसी दार्शनिक सिद्धांत को अधिक प्रभावोत्पादक बनाकर उसे लोगों के चित्त पर अंकित करना चाहता है तब वह जटिल और पारिभाषिक

शब्दों को निकालकर उसे अधिक प्रत्यक्ष और मर्म-स्पर्शी रूप देता है। भर्तृहरि, कबीर, गोस्वामी तुलसीदास आदि इस बात में बहुत निपुण थे। भर्तृहरि का एक श्लोक लीजिए—

तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं स्वादु सुरभि
क्षुधार्त्तः सञ्छालीन्कवलयति शाकादिवलितान्।
प्रदीप्ते रागाग्नौ सुदृढतरमाश्लिष्यति वधूं
प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः॥

भावार्थ—प्यासे होने पर स्वादिष्ठ और सुगंधित जलपान, भूखे होने पर शाकादि के साथ चावलों का भोजन, और हृदय में अनुरागाग्नि के प्रज्वलित होने पर प्रियतमा का आलिंगन करनेवाले मनुष्य विलक्षण मूर्ख हैं। क्योंकि प्यास आदि व्याधियों की शांति के लिये जल-पान आदि प्रतीकारों ही को वे सुख समझते हैं। वे नहीं जानते कि उनका यह उपचार बिलकुल ही उलटा है।

देखिए, यहाँ पर कवि ने कैसे स्वाभाविक व्यापारों के चित्रण द्वारा मनुष्य की सुख-दुःख-विषयक बुद्धि की भ्रामकता दिखलाई है।

अँगरेजों में भी पोप कवि इस विषय में बहुत सिद्धहस्त था। नीचे उसका एक साधारण सिद्धांत लिखा जाता है—

"भविष्यत् में क्या होनेवाला है, इस बात की अनभिज्ञता इसलिये दी गई है जिसमें सब लोग, आनेवाले अनिष्ट की शंका से, उस अनिष्ट घटना के पूर्ववर्त्ती दिनों के सुख को भी न खो बैठें।"

इसी बात को पोप कवि इस तरह कहता है—

उस बलिपशु को देख आज जिसका, तू हे नर !
निज उमंग में रक्त बहाएगा बेदी पर।
होता उसको ज्ञान कहीं तेरा है जैसा।
क्रीड़ा करता कभी उछलता फिरता ऐसा ?
अंतिम क्षण तक खाता पीता काल काटता।
हनने को जो हाथ उठा है उसे चाटता।
आगम का अज्ञान ईश का परम अनुग्रह।*

"अनिष्ट" शब्द बहुत व्यापक और संदिग्ध है, अतः कवि मृत्यु ही को सबसे अधिक अनिष्ट वस्तु समझता है। मृत्यु की आशंका से प्राणिमात्र का विचलित होना स्वाभाविक है। कवि दिखलाता है कि पशु भी मृत्यु सिर पर नाचते रहते भी सुखी रहता है, यहाँ तक कि वह प्रहारकर्त्ता के हाथ को चाटता जाता है, यह एक अद्भुत और मर्मस्पर्शी दृश्य है। पूर्वोक्त सिद्धांत को यहाँ काव्य का रूप प्राप्त हुआ है।

---

* The lamb thy riot dooms to bleed to-day.
Had he thy reason, would he skip and play ?
Pleased to the last he crops the flow'ry food
And licks the hand just raised to shed his blood.

....

The blindness to the future kindly given.
—Essay on Man

एक और साधारण सा उदाहरण लीजिए। "तुमने उससे विवाह किया" यह बहुत ही साधारण वाक्य है। पर "तुमने उसका हाथ पकड़ा" यह एक विशेष अर्थ-गर्भित और काव्योचित वाक्य है। 'विवाह' शब्द के अंतर्गत बहुत से विधान हैं जिन पर सब कोई एक दफे दृष्टि नहीं डाल सकते। अत: उससे कोई बात स्पष्ट रूप से कल्पना में नहीं आती। इस कारण इन विधानों मे से सबसे प्रधान और स्वाभाविक बात जो हाथ पकड़ना है उसे चुनकर कवि अपने अर्थ को मनुष्य के हृत्पटल पर रेखांकित करता है।

श्रुतिसुखदता

कविता की बोली और साधारण बोली में बड़ा अंतर है। "शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे" और "नीरसतरुरिह विलसति पुरत:" वाली बात हमारी पंडित-मंडली में बहुत दिन से चली आती है। भाव-सौंदर्य और नाद-सौंदर्य दोनों के संयोग से कविता की सृष्टि होती है। श्रुतिकटु मानकर कुछ अक्षरों का परित्याग, वृत्त-विधान और अंत्यानुप्रास का बंधन, इसी नाद-सौंदर्य के निबाहने के लिये है। बिना इसके कविता करना, अथवा इसी को सर्वस्व मानकर कविता करने की कोशिश करना, निष्फल है। नाद-सौंदर्य के साथ भाव-सौंदर्य भी होना चाहिए। हिंदी के कुछ पुराने कवि इस नाद-सौंदर्य के इतना पीछे पड़ गए थे कि उनकी अधिकांश कविता विकृत और प्राय. भावशून्य हो गई है। यह देखकर आज-

कल के कुछ समालोचक इतना चिढ़ गए हैं कि ऐसी कविता को एकदम निकाल बाहर करना चाहते हैं। किसी को अंत्यानुप्रास का बंधन खलता है; कोई गणात्मक छंदों को देखकर नाक भौँ चढ़ाता है; कोई फारसी के मुखम्मस और रुबाई की ओर झुकता है। हमारी छंदोरचना तक की कोई कोई अवहेलना करते हैं—वह छंदोरचना जिसके माधुर्य को भूमंडल के किसी देश का छंद:शास्त्र नहीं पा सकता और जो हमारी श्रुतिसुखदता के स्वाभाविक प्रेम के सर्वथा अनुकूल है। जो लोग अंत्यानुप्रास की बिलकुल आवश्यकता नहीं समझते उनसे मुझे यही पूछना है कि अंत्यानुप्रास ही पर इतना कोप क्यों? छंद और तुक दोनों ही नाद-सौंदर्य के उद्देश से रखे गए हैं। फिर क्यों एक निकाला जाय दूसरा नहीं? यदि कहा जाय कि सिर्फ छंद ही से उस उद्देश की सिद्धि हो जाती है तो यह जानने की इच्छा बनी रहती है कि क्या कविता के लिये नाद-सौंदर्य की कोई सीमा नियत है। यदि किसी कविता में भाव-सौंदर्य के साथ नाद-सौंदर्य भी वर्तमान हो तो वह अधिक ओजस्विनी और चिरस्थायिनी होगी। नाद-सौंदर्य कविता के स्थायित्व का वर्द्धक है, उसके बल से कविता ग्रंथाश्रयविहीन होने पर भी किसी न किसी अंश में लोगों की जिह्वा पर बनी रहती है। अतएव इस नाद-सौंदर्य को केवल बंधन ही न समझना चाहिए। यह कविता की आत्मा नहीं तो शरीर अवश्य है।

नाद-सौंदर्य-संबंधी नियमों को गणित-क्रिया के समान काम में लाने से हमारी कविता मे कहीं कहीं बड़ी विलक्षणता आ गई है। श्रुति-कटु वर्णों का निर्देश इसलिये नहीं किया गया कि जितने अक्षर श्रवण-कटु हैं वे एकदम त्याज्य समझे जायँ और उनकी जगह पर श्रवण-सुखद वर्ण ढूँढ़ ढूँढ़कर रखे जायँ। इस नियम-निर्देश का मतलब इतना ही है कि यदि मधुराक्षरवाले शब्द मिल सकें और बिना तोड़-मरोड़ के प्रसंगानुसार खप सकें तो उनके स्थान पर श्रुति-कर्कश अक्षरवाले शब्द न लाए जायँ। संस्कृत से संबंध रखनेवाली भाषाओं में इस नाद-सौंदर्य का निर्वाह अधिकता से हो सकता है। अतः अँगरेजी आदि अन्य भाषाओं की देखादेखी, जिनमें इसके लिये कम जगह है, अपनी कविता को भी हमें इस विशेषता से वंचित कर देना बुद्धिमानी का काम नहीं। पर, याद रहे, सिर्फ श्रुति-मधुर अक्षरों के पीछे दीवाने रहना और कविता को अन्यान्य गुणों से भूषित न करना सबसे बड़ा दोष है।

एक और विशेषता हमारी कविता में है। वह यह है कि कहीं कहीं व्यक्तियों के नामों के स्थान पर उनके रूप, गुण या कार्य्यबोधक शब्दों का व्यवहार किया जाता है। यों देखने में पद्य के नपे हुए चरणों में खपाने के लिये शब्दों की संख्या का बढ़ाना ही इसका प्रयोजन जान पड़ता है; पर विचार करने से इसका इससे भी गुरुतर उद्देश प्रकट होता है। सच पूछिए तो यह बात कृत्रिमता बचाने के लिये की जाती है। मनुष्यों

के नाम यथार्थ में कृत्रिम संकेत हैं जिनसे कविता की परि-पोषकता नहीं होती। अतएव कवि मनुष्यों के नामों के स्थान पर कभी कभी उनके ऐसे रूप, गुण या व्यापार की ओर इशारा करता है जो स्वाभाविक होने के कारण सुननेवाले के ध्यान में अधिक आ सकते हैं और प्रसंग-विशेष के अनुकूल होने से वर्णन की यथार्थता को बढ़ाते हैं। गिरिधर, मुरारि, त्रिपुरारि, दीनबंधु, चक्रपाणि, दशमुख आदि शब्द ऐसे ही हैं। ऐसे शब्दों को चुनते समय प्रसंग या अवसर का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। जैसे, यदि कोई मनुष्य किसी दुर्धर्ष अत्या-चारी के हाथ से छुटकारा पाना चाहता हो तो उसके लिये "हे गोपिका-रमण!" "हे वृंदावनविहारी!" आदि कहकर कृष्ण को पुकारने की अपेक्षा "हे मुरारि!" "हे कंसनिकंदन!" आदि संबोधनों से पुकारना अधिक उपयुक्त है। क्योंकि श्रीकृष्ण के द्वारा मुर और कंस आदि दुष्टों का मारा जाना देखकर उसे उनसे अपनी रक्षा की आशा हुई है, न कि उनका वृंदावन में गोपियों के साथ विहार करना देखकर। इसी तरह किसी आपत्ति से उद्धार पाने के लिये कृष्ण को "मुरलीधर" कहकर पुकारने की अपेक्षा "गिरिधर" कहना अधिक अर्थ-संगत है।

अलंकार

कविता में भाषा को खूब जोरदार बनाना पड़ता है—उसकी सब शक्तियों से काम लेना पड़ता है। वस्तु या व्यापार

का चित्र चटकीला करने और रसपरिपाक के लिये कभी किसी वस्तु का गुण या आकार बहुत बढ़ाकर दिखाना पड़ता है, कभी किसी वस्तु के रूप और गुण को वैसी ही और वस्तुओं के साहचर्य द्वारा और मनोरंजक बनाने के लिये उसके समान रूप और धर्मवाली और और वस्तुओं के सामने लाकर रखना पड़ता है। इस तरह की भिन्न भिन्न वर्णन-प्रणालियों का नाम अलंकार है। इनका उपयोग काव्य में प्रसंगानुसार विशेष रूप से होता है। इनसे वस्तु-वर्णन मे बहुत सहायता मिलती है। कहीं कहीं तो इनके बिना कविता का काम ही नहीं चल सकता। किंतु इससे यह न समझना चाहिए कि अलंकार ही कविता है। अलंकार बोलचाल में भी रोज आते रहते हैं। जैसे, लोग कहते हैं "जिसने शालग्राम को भून डाला उसे भंटा भूनते क्या लगता है ?" ये काव्य नहीं कहे जा सकते। जहाँ किसी प्रकार की रसव्यंजना होगी वही किसी वर्णनप्रणाली को अलंकारता प्राप्त हो सकती है।

कई वर्ष हुए "अलंकारप्रकाश" नामक पुस्तक के कर्त्ता का एक लेख "सरस्वती" मे निकला था। उसका नाम था—"कवि और काव्य"। उसमें उन्होंने अलंकारों की प्रधानता स्थापित करते हुए और उन्हें काव्य का सर्वस्व मानते हुए लिखा था कि "आजकल के बहुत से विद्वानों का मत विदेशी भाषा के प्रभाव से काव्य-विषय में कुछ परिवर्त्तित देख पड़ता है। वे महाशय सर्वलोकमान्य साहित्य-ग्रंथों में विवेचन किए

हुए अलंकार-युक्त काव्य को उत्कृष्ट न समझ केवल सृष्टि-वैचित्र्य-वर्णन मे काव्यत्व समझते हैं।" यदि ऐसा है तो इसमे आश्चर्य ही क्या ? रस और भाव ही कविता के प्राण हैं। पुराने विद्वान् रसात्मक कविता ही को कविता कहते थे। रसों अथवा मनोविकारों के यथेष्ट परिपाक ही की ओर उनका ध्यान अधिक था। अलंकारों को वे आवश्यकतानुसार वर्णित विषय को विशेषतया हृदयंगम कराने के लिये ही लाते थे। यह नहीं समझा जाता था कि अलंकार के बिना कविता हो ही नहीं सकती। स्वयं काव्यप्रकाश के कर्त्ता मम्मटाचार्य ने बिना अलंकार के काव्य का होना माना है और उदाहरण भी दिया है—"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि"। किंतु पीछे से इन अलंकारों ही मे काव्यत्व मान लेने से कविता अभ्यासगम्य और सुगम प्रतीत होने लगी। इसी से लोग उनकी ओर अधिक झुक पड़े। धीरे धीरे इन अलंकारों के लिये आग्रह बढ़ने लगा, यहाँ तक कि चंद्रालोककार ने लिख डाला—

अंगीकरोति यः काव्य शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥

अर्थात्—जो अलंकार-रहित शब्द और अर्थ को काव्य मानता है वह अग्नि को उष्णता-रहित क्यों नहीं मानता ? किंतु यथार्थ बात कब तक छिपाई जा सकती है ? इतने दिनों पीछे समय ने फिर पलटा खाया। विचारशील लोगों पर यह

बात प्रकट हो गई कि रसात्मक वाक्यों ही का नाम कविता है और रस ही कविता की आत्मा है।

इस विषय में पूर्वोक्त ग्रंथकार महोदय को एक बात कहनी थी; पर उन्होंने नहीं कही। वे कह सकते थे कि सृष्टि-वैचित्र्य-वर्णन भी तो स्वभावोक्ति अलंकार है। इसका उत्तर यह है कि स्वभावोक्ति को अलंकार मानना उचित नहीं। वह अलंकार की श्रेणी में आ ही नहीं सकती। वर्णन करने की प्रणाली का नाम अलंकार है। जिस वस्तु को हम चाहें, उस प्रणाली के अंतर्गत करके उसका वर्णन कर सकते हैं। किसी वस्तुविशेष से उसका संबंध न होना चाहिए। वस्तु-निर्देश अलंकार का विषय नहीं, वह यथार्थ में रस का विषय है। अलंकार वर्णनशैली मात्र को कह सकते हैं। इस दृष्टि से कई अलंकार ऐसे हैं जिन्हें अलंकार नहीं कहना चाहिए; जैसे, स्वभावोक्ति, अतिशयोक्ति से भिन्न अत्युक्ति, स्मरण, अल्प, उदात्त। स्वभावोक्ति में वर्ण्य वस्तु का निर्देश है; पर वस्तु-निर्वाचन अलंकार का काम नहीं। इससे स्वभावोक्ति को अलंकार मानना ठीक नहीं। उसे अलंकार में गिननेवालों ने बहुत सिर खपाया है; पर उसका निर्दोष लक्षण नहीं कह सके। काव्यप्रकाश के कारिकाकार ने उसका लक्षण लिखा है—

स्वभावोक्तिस्तु डिंभादेः स्वक्रियारूपवर्णनम्।

अर्थात्—जिसमें बालकादिकों की निज की क्रिया या रूप का वर्णन हो वह स्वभावोक्ति है। बालकादिक कहने से

किसी वस्तुविशेष का बोध तो होता नहीं। इससे यही समझा जा सकता है कि सृष्टि की वस्तुओं के व्यापार और रूप का वर्णन स्वभावोक्ति है। इस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष के कारण अलंकारता नहीं आती। अलंकारसर्वस्व के कर्त्ता राजानक रुय्यक ने इसका यह लक्षण लिखा है--

सूक्ष्मवस्तुस्वभावयथावद्वर्णनं स्वभावोक्तिः।

अर्थात् वस्तु के सूक्ष्म स्वभाव का ठीक ठीक वर्णन करना स्वभावोक्ति है। आचार्य्य दंडी ने अवस्था की योजना करके यह लक्षण लिखा है—

नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा॥

बात यह है कि स्वभावोक्ति अलंकार के अंतर्गत आ ही नहीं सकती; क्योंकि वह वर्णन करने की प्रणाली नहीं, किंतु वर्ण्य वस्तु या विषय है।

जिस प्रकार एक कुरूपा स्त्री अलंकार धारण करने से सुंदर नहीं हो सकती उसी प्रकार अस्वाभाविक भद्दे और क्षुद्र भावों को अलंकार-स्थापना सुंदर और मनोहर नहीं बना सकती। महाराज भोज ने भी अलंकार को "अलमर्थ-मलंकर्त्तुः" अर्थात् सुंदर अर्थ को शोभित करनेवाला ही कहा है। इस कथन से अलंकार आने के पहले ही कविता की सुंदरता सिद्ध है। अतः उसे अलंकारों में ढूँढ़ना भूल है। अलंकारों से युक्त बहुत से ऐसे काव्योदाहरण दिए जा सकते

हैं जिनको अलंकार के प्रेमी लोग भी भद्दा और नीरस कहने मे संकोच न करेंगे। इसी तरह बहुत से ऐसे उदाहरण भी दिए जा सकते हैं जिनमे एक भी अलंकार नहीं; किंतु उनके सौंदर्य और मनोरंजकत्व को सब स्वीकार करेंगे। जिन वाक्यों से मनुष्य के चित्त में रस-संचार न हो,—उसकी मानसिक स्थिति मे कोई परिवर्त्तन न हो—वे कदापि काव्य नहीं। अलंकारशास्त्र की कुछ बातें ऐसी हैं जो केवल शब्द-चातुरी मात्र हैं। शब्दकौशल के कारण वे चित्त को चमत्कृत करती हैं। उनसे रस-संचार नहीं होता। वे चमत्कृत चाहे भले ही करें, पर मानव-हृदय के स्रोतों से उनका विशेष संबंध नहीं। उनका चमत्कार शिल्पकारों की कारीगरी के समान सिर्फ शिल्प-प्रदर्शिनी मे रखने ही योग्य होता है।

अलंकार है क्या वस्तु? विद्वानों ने काव्यों के सुंदर सुंदर स्थलों को पहले चुना। फिर उनकी वर्णनशैली के सौंदर्य का कारण ढूँढ़ा। तब वर्णन-वैचित्र्य के अनुसार भिन्न भिन्न लक्षण बनाए जैसे "विकल्प" अलंकार को पहले पहल राजानक रुय्यक ने ही निकाला है। अब कौन कह सकता है कि काव्यों के जितने सुंदर सुंदर स्थल थे सब ढूँढ़ डाले गए, अथवा जो सुंदर समझे गए--जिन्हें लक्ष्य करके लक्षण बने—उनकी सुंदरता का कारण कही हुई वर्णन-प्रणाली ही थी। अलंकारों के लक्षण बनने तक काव्यों का बनना नहीं रुक रहा। आदिकवि महर्षि वाल्मीकि ने—"मा

निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः" का उच्चारण किसी अलंकार को ध्यान में रखकर नहीं किया। अलंकार-लक्षणों के बनने के बहुत पहले कविता होती थी और अच्छी होती थी। अथवा यों कहना चाहिए कि जब से इन अलंकारों को हठात् लाने का उद्योग होने लगा तब से कविता कुछ बिगड़ चली।

—रामचंद्र शुक्ल

(११) आचरण की सभ्यता

विद्या, कला, कविता, साहित्य, धन और राजत्व से भी आचरण की सभ्यता अधिक ज्योतिष्मती है। आचरण की सभ्यता को प्राप्त करके एक कंगाल आदमी राजाओं के दिलों पर भी अपना प्रभुत्व जमा सकता है। इस सभ्यता के दर्शन से कला, साहित्य और संगीत को अद्भुत सिद्धि प्राप्त होती है। राग अधिक मृदु हो जाता है, विद्या का तीसरा शिव-नेत्र खुल जाता है, चित्र-कला मौन राग अलापने लग जाती है, वक्ता चुप हो जाता है, लेखक की लेखनी थम जाती है, मूर्ति बनाने-वाले के सामने नए कपोल, नए नयन और नवीन छवि का दृश्य उपस्थित हो जाता है।

आचरण की सभ्यतामय भाषा सदा मौन रहती है। इस भाषा का निघंटु शुद्ध श्वेत पत्रोंवाला है। इसमें नाम मात्र के लिये भी शब्द नहीं। यह सभ्याचरण नाद करता हुआ भी मौन है, व्याख्यान देता हुआ भी व्याख्यान के पीछे छिपा है, राग गाता हुआ भी राग के सुर के भीतर पड़ा है। मृदु वचनों की मिठास मे आचरण की सभ्यता मौन रूप से खुली हुई है। नम्रता, दया, प्रेम और उदारता सब के सब सभ्या-चरण की भाषा के मौन व्याख्यान हैं। मनुष्य के जीवन पर

मौन व्याख्यान का प्रभाव चिरस्थायी होता है और उसकी आत्मा का एक अंग हो जाता है।

न काला, न नीला, न पीला, न सुफेद, न पूर्वी, न पश्चिमी, न उत्तरी, न दक्षिणी, बे नाम, बे निशान, बे मकान—विशाल आत्मा के आचरण से मौनरूपिणी सुगंधि सदा प्रसारित हुआ करती है। इसके मौन से प्रसूत प्रेम और पवित्रता-धर्म्म सारे जगत् का कल्याण करके विस्तृत होते हैं। इसकी उपस्थिति से मन और हृदय की ऋतु बदल जाती है। तीक्ष्ण गरमी से जले भुने व्यक्ति आचरण के बादलों की बूँदा बाँदी से शीतल हो जाते हैं। मानसोत्पन्न शरदृतु से क्लेशातुर हुए पुरुष इसकी सुगंध-मय अटल वसंतऋतु के आनंद का पान करते हैं। आचरण के नेत्र के एक अश्रु से जगत् भर के नेत्र भीग जाते हैं। आचरण के आनंद-नृत्य से उन्मदिष्णु होकर वृक्षों और पर्वतों तक के हृदय नृत्य करने लगते हैं। आचरण के मौन व्याख्यान से मनुष्य को एक नया जीवन प्राप्त होता है। नए नए विचार स्वयं ही प्रकट होने लगते हैं। सूखे काष्ठ सचमुच ही हरे हो जाते हैं। सूखे कूपों में जल भर आता है। नए नेत्र मिलते हैं। कुल पदार्थों के साथ एक नया मैत्री-भाव फूट पड़ता है। सूर्य्य, जल, वायु, पुष्प, पत्थर, घास, पात, नर, नारी और बालक तक में एक अश्रुतपूर्व सुंदर मूर्ति के दर्शन होने लगते हैं।

मौनरूपी व्याख्यान की महत्ता इतनी बलवती, इतनी अर्थ-वती और इतनी प्रभाववती होती है कि उसके सामने क्या

मातृभाषा, क्या साहित्य-भाषा और क्या अन्य देश की भाषा— सब की सब तुच्छ प्रतीत होती हैं। अन्य कोई भाषा दिव्य नहीं, केवल आचरण की मौन भाषा ही ईश्वरीय है। विचार करके देखो, मौन व्याख्यान किस तरह आपके हृदय की नाडी में सुंदरता पिरो देता है। वह व्याख्यान ही क्या, जिसने हृदय की धुन को—मन के लक्ष्य को—ही न बदल दिया। चंद्रमा की मंद मंद हँसी का—तारागण के कटाक्ष-पूर्ण प्राकृतिक मौन व्याख्यान का—प्रभाव किसी कवि के दिल में घुसकर देखो। सूर्यास्त होने के पश्चात्, श्रीकेशवचंद्र सेन और महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुर ने सारी रात, एक क्षण की तरह, गुजार दी; यह तो कल की बात है। कमल और नरगिस में नयन देखनेवाले नेत्रों से पूछो कि मौन व्याख्यान की प्रभुता कितनी दिव्य है।

प्रेम की भाषा शब्द-रहित है। नेत्रों की, कपोलों की, मस्तक की भाषा भी शब्द-रहित है। जीवन का तत्त्व भी शब्द से परे है। सच्चा आचरण—प्रभाव, शील, अचल-स्थिति-संयुक्त आचरण—न तो साहित्य के लंबे व्याख्यानों से गठा जा सकता है; न वेद की श्रुतियों के मीठे उपदेश से; न इंजील से; न क़ुरान से; न धर्म्मचर्चा से; न केवल सत्संग से। जीवन के अरण्य मे घुसे हुए पुरुष के हृदय पर, प्रकृति और मनुष्य के जीवन के मौन व्याख्यानों के यत्न से, सुनार के छोटे हथौड़े की मंद मंद चोटों की तरह, आचरण का रूप प्रत्यक्ष होता है।

वर्फ का दुपट्टा बाँधे हुए हिमालय इस समय तो अति सुंदर, अति ऊँचा श्रौर गौरवान्वित मालूम होता है, परंतु प्रकृति ने अगणित शताब्दियो के परिश्रम से रेत का एक एक परमाणु समुद्र के जल मे डुबो डुबोकर श्रौर उनको अपने विचित्र हथौड़ों से सुडौल कर करके इस हिमालय के दर्शन कराए हैं। आचरण भी हिमालय की तरह एक ऊँचे कलश-वाला मंदिर है। यह वह आम का पेड़ नहीं जिसको मदारी एक क्षण मे, तुम्हारी आँखों मे धूल डालकर, अपनी हथेली पर जमा दे। इसके वनने में अनंत काल लगा है। पृथ्वी वन गई, सूर्य्य वन गया, तारागण आकाश में दौड़ने लगे; परंतु अभी तक आचरण के सुंदर रूप के पूर्ण दर्शन नहीं हुए। कहीं कहीं उसकी अत्यल्प छटा अवश्य दिखाई देती है।

पुस्तकों में लिखे हुए नुसखों से तो श्रौर भी अधिक वद-हज़मी हो जाती है। सारे वेद श्रौर शास्त्र भी यदि घोलकर पी लिए जायँ तो भी आदर्श आचरण की प्राप्ति नहीं होती। आचरण-प्राप्ति की इच्छा रखनेवाले को तर्क-वितर्क से कुछ भी सहायता नहीं मिलती। शब्द श्रौर वाणी तो साधारण जीवन के चोचले हैं। ये आचरण की गुप्त गुहा मे नहीं प्रवेश कर सकते। वहाँ इनका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। वेद इस देश में रहनेवालों के विश्वासानुसार ब्रह्म-वाणी हैं, परंतु इतना काल व्यतीत हो जाने पर भी आज तक वे समस्त जगत् की भिन्न भिन्न जातियो को संस्कृत भाषा न वुला सके—न समझा

सके—न सिखा सके। यह बात हो कैसे? ईश्वर तो सदा मौन है। ईश्वरीय मौन शब्द और भाषा का विषय नहीं। वह केवल आचरण के कान में गुरु-मंत्र फूँक सकता है। वह केवल ऋषि के अंतःकरण में वेद का ज्ञानोदय कर सकता है।

किसी का आचरण वायु के झोंके से हिल जाय तो हिल जाय, परंतु साहित्य और शब्द की गोलंदाजी और आँधी से उसके सिर के एक बाल तक का बाँका न होना एक साधारण बात है। पुष्प की कोमल पँखड़ी के स्पर्श से किसी को रोमांच हो जाय; जल की शीतलता से क्रोध और विषय-वासना शांत हो जायँ; बर्फ के दर्शन से पवित्रता आ जाय; सूर्य्य की ज्योति से नेत्र खुल जायँ—परंतु अँगरेजी भाषा का व्याख्यान—चाहे वह कारलायल ही का लिखा हुआ क्यों न हो—बनारस में पंडितों के लिये रामरौला ही है। इसी तरह न्याय और व्याकरण की बारीकियों के विषय में पंडितों के द्वारा की गई चर्चाएँ और शास्त्रार्थ संस्कृत-ज्ञान-हीन पुरुषों के लिये स्टीम इंजिन के फप् फप् शब्द से अधिक अर्थ नहीं रखते। यदि आप कहें कि व्याख्यानों द्वारा, उपदेशों द्वारा, धर्म्मचर्चा द्वारा कितने ही पुरुषों और नारियों के हृदय पर जीवन-व्यापी प्रभाव पड़ा है, तो उत्तर यह है कि प्रभाव शब्द का नहीं पड़ता—प्रभाव तो सदा सदाचरण का पड़ता है। साधारण उपदेश तो हर गिरजे, हर मठ और हर मसजिद में होते हैं, परंतु उनका प्रभाव हम पर तभी पड़ता है जब गिरजे का पादड़ी

स्वयं ईसा होता है—मंदिर का पुजारी स्वयं ब्रह्मर्षि होता है—मसजिद का मुल्ला स्वयं पैगंबर और रसूल होता है।

यदि एक ब्राह्मण किसी डूबती कन्या की रक्षा के लिये—चाहे वह कन्या किसी जाति की हो, किसी मनुष्य की हो, किसी देश की हो—अपने आपको गंगा में फेंक दे—चाहे फिर उसके प्राण यह काम करने में रहें या जायँ तो इस कार्य के प्रेरक आचरण की मौनमयी भाषा किस देश मे, किस जाति मे, और किस काल में, कौन नहीं समझ सकता? प्रेम का आचरण, उदारता का आचरण, दया का आचरण—क्या पशु और क्या मनुष्य—जगत् भर के सभी चराचर आप ही आप समझ लेते हैं। जगत् भर के बच्चों की भाषा इस भाष्य-हीन भाषा का चिह्न है। बालकों के इस शुद्ध मौन का नाद और हास्य भी सब देशों में एक ही सा पाया जाता है।

एक दफे एक राजा जंगल में शिकार खेलते खेलते रास्ता भूल गया। उसके साथी पीछे रह गए। घोड़ा उसका मर गया। बंदूक हाथ में रह गई। रात का समय आ पहुँचा। देश बर्फानी, रास्ते पहाड़ी। पानी बरस रहा है। रात अँधेरी है। ओले पड़ रहे हैं। ठंडी हवा उसकी हड्डियों तक को हिला रही है। प्रकृति ने, इस घड़ी, इस राजा को अनाथ बालक से भी अधिक बे-सरो-सामान कर दिया। इतने में दूर एक पहाड़ी की चोटी के नीचे टिमटिमाती हुई बत्ती की लौ दिखाई दी। कई मील तक पहाड़ के ऊँचे नीचे

उतार चढ़ाव को पार करने से थका हुआ, भूखा और सर्दी से ठिठरा हुआ राजा उस बत्ती के पास पहुँचा। यह एक गरीब पहाड़ी किसान की कुटी थी। इसमें किसान, उसकी स्त्री और उनके दो तीन बच्चे रहते थे। किसान शिकारी राजा को अपनी झोपड़ी में ले गया। आग जलाई। उसके वस्त्र सुखाए। दो मोटी मोटी रोटियाँ और साग उसके आगे रखा। उसने खुद भी खाया और शिकारी को भी खिलाया। ऊन और रीछ के चमड़े के नरम और गरम बिछौने पर उसने शिकारी को सुलाया। आप बे-बिछौने की भूमि पर सो रहा। धन्य है तू, हे मनुष्य! तू ईश्वर से क्या कम है! तू भी तो पवित्र और निष्काम रक्षा का कर्ता है। तू भी आपन्न जनों का आपत्ति से उद्धार करनेवाला है।

शिकारी कई रूसों का ज़ार ही क्यों न हो, इस समय तो एक रोटी और गरम बिस्तर पर—अग्नि की एक चिनगारी और टूटी छत पर—उसकी सारी राजधानियाँ बिक गई। अब यदि वह अपना सारा राज्य उस किसान को, उसकी अमूल्य रक्षा के मोल में, देना चाहे तो भी वह तुच्छ है; यदि वह अपना दिल ही देना चाहे तो भी वह तुच्छ है। अब उस निर्धन और निरक्षर पहाड़ी किसान की दया और उदारता के कर्म के मौन व्याख्यान को देखो। चाहे शिकारी को पता लगे चाहे न लगे, परतु राजा के अंतस् के मौन-जीवन में उसने ईश्वरीय औदार्य्य की कलम गाड़ दी। शिकार में अचा-

नक रास्ता भूल जाने के कारण जब इस राजा को ज्ञान का एक परमाणु मिल गया तब कौन कह सकता है कि शिकारी का जीवन अच्छा नहीं। क्या जंगल के ऐसे जीवन में, इसी प्रकार के व्याख्यानों से, मनुष्य का जीवन, शनैः शनैः, नया रूप धारण नहीं करता? जिसने शिकारी के जीवन के दुःखों को नहीं सहन किया उसको क्या पता कि ऐसे जीवन की तह में किस प्रकार के और किस मिठास के आचरण का विकास होता है। इसी तरह क्या एक मनुष्य के जीवन मे और क्या एक जाति के जीवन में—पवित्रता और अपवित्रता भी जीवन के आचरण को भली भाँति गढ़ती है—और उस पर भली भाँति कुंदन करती है। जगाई और मधाई यदि पक्के लुटेरे न होते तो महाप्रभु चैतन्य के आचरण-संबंधी मौन व्याख्यान को ऐसी दृढ़ता से कैसे ग्रहण करते। नग्न नारी को स्नान करते देख सूरदासजी यदि कृष्णार्पण किए गए अपने हृदय को एक बार फिर उस नारी की सुंदरता निरखने में न लगाते और उस समय फिर एक बार अपवित्र न होते तो सूरसागर में प्रेम का वह मौन व्याख्यान—आचरण का वह उत्तम आदर्श—कैसे दिखाई देता। कौन कह सकता है कि जीवन की पवित्रता और अपवित्रता के प्रतिद्वंद्वी भाव से संसार के आचरणों में एक अद्भुत पवित्रता का विकास नहीं होता! यदि मेरी माडलिन वेश्या न होती तो कौन उसे ईसा के पास ले जाता और ईसा के मौन व्याख्यान के प्रभाव से किस तरह आज वह

हमारी पूजनीया माता बनती ? कौन कह सकता है कि ध्रुव की सौतेली माता अपनी कठोरता से ही ध्रुव को अटल बनाने में वैसी ही सहायक नहीं हुई जैसी कि स्वयं ध्रुव की माता।

मनुष्य का जीवन इतना विशाल है कि उसके आचरण को रूप देने के लिये नाना प्रकार के ऊँच नीच और भले बुरे विचार, अमीरी और गरीबी, उन्नति और अवनति इत्यादि सहायता पहुँचाते हैं। पवित्र अपवित्रता उतनी ही बलवती है, जितनी कि पवित्र पवित्रता। जो कुछ जगत् में हो रहा है वह केवल आचरण के विकास के अर्थ हो रहा है। अंतरात्मा वही काम करती है जो वाह्य पदार्थों के संयोग का प्रतिबिंब होता है। जिनको हम पवित्रात्मा कहते हैं, क्या पता है, किन किन कूपों से निकलकर वे अब उदय को प्राप्त हुए हैं? जिनको हम धर्म्मात्मा कहते हैं, क्या पता है, किन किन अधर्मों को करके वे धर्म-ज्ञान को पा सके हैं? जिनको हम सभ्य कहते हैं और जो अपने जीवन में पवित्रता को ही सब कुछ समझते हैं, क्या पता है, वे कुछ काल पूर्व बुरी और अधर्मपूर्ण अपवित्रता में लिप्त रहे हों? अपने जन्म-जन्मांतरों के संस्कारों से भरी हुई अंधकार-मय कोठरी से निकलकर ज्योति और स्वच्छ वायु से परिपूर्ण खुले हुए देश में जब तक अपना आचरण अपने नेत्र न खोल चुका हो तब तक धर्म के गूढ़ तत्त्व कैसे समझ में आ सकते हैं। नेत्र-रहित को सूर्य्य से क्या लाभ? हृदय-रहित को प्रेम से क्या लाभ?

बहरे को राग से क्या लाभ ? कविता, साहित्य, पीर, पैगंबर, गुरु, आचार्य, ऋषि आदि के उपदेशों से लाभ उठाने का यदि आत्मा में बल नहीं तो उनसे क्या लाभ ? जब तक जीवन का बीज पृथ्वी के मल मूत्र के ढेर में पड़ा है, अथवा जब तक वह खाद की गरमी से अंकुरित नहीं हुआ और प्रस्फुटित होकर उससे दो नए पत्ते ऊपर नहीं निकल आए, तब तक ज्योति और वायु उसके किस काम के ?

जगत् के अनेक संप्रदाय अनदेखी और अनजानी वस्तुओं का वर्णन करते हैं; पर अपने नेत्र तो अभी माया-पटल से बंद हैं—और धर्मानुभव के लिये मायाजाल में उनका बंद होना आवश्यक भी है। इस कारण मैं उनके अर्थ कैसे जान सकता हूँ ? वे भाव—वे आचरण— जो उन आचार्यों के हृदय में थे और जो उनके शब्दों के अंतर्गत मौनावस्था में पड़े हुए हैं, उनके साथ मेरा संबंध, जब तक मेरा भी आचरण उसी प्रकार का न हो जाय तब तक, हो ही कैसे सकता है ? ऋषि को तो मौन पदार्थ भी उपदेश दे सकते हैं; टूटे फूटे शब्द भी अपना अर्थ भासित कर सकते हैं, तुच्छ से भी तुच्छ वस्तु उसकी आँखों में उसी महात्मा का चिह्न है जिसका चिह्न उत्तम उत्तम पदार्थ हैं। राजा में फकीर छिपा है और फकीर मे राजा। बड़े से बड़े पंडित में मूर्ख छिपा है और बड़े से बड़े मूर्ख में पंडित। वीर में कायर और कायर में वीर सोता है। पापी मे महात्मा और महात्मा में पापी डूबा हुआ है।

वह आचरण, जो धर्म-संप्रदायों के अनुच्चारित शब्दों को सुनता है, हममें कहाँ? जब वही नहीं तब फिर क्यों न ये संप्रदाय हमारे मानसिक महाभारतों के कुरुक्षेत्र बनें? क्यों न अप्रेम, अपवित्रता, हत्या और अत्याचार इन संप्रदायों के नाम से हमारा खून करें? कोई भी धर्म-संप्रदाय आचरण-रहित पुरुषों के लिये कल्याणकारक नहीं हो सकता और आचरणवाले पुरुषों के लिये सभी धर्म-संप्रदाय कल्याणकारक हैं। सच्चा साधु धर्म को गौरव देता है, धर्म किसी को गौरवान्वित नहीं करता।

आचरण का विकास जीवन का परमोद्देश है। आचरण के विकास के लिये नाना प्रकार की सामग्री का—जो संसार-संभूत शारीरिक, प्राकृतिक, मानसिक और आध्यात्मिक जीवन में वर्तमान है, उन सबका—क्या एक पुरुष और क्या एक जाति के आचरण के विकास के साधनों के संबंध में विचार करना होगा। आचरण के विकास के लिये जितने कर्म हैं उन सबको आचरण को संघटित करनेवाले धर्म के अंग मानना पड़ेगा। चाहे कोई कितना ही बड़ा महात्मा क्यों न हो वह निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकता कि यों ही करो, और किसी तरह नहीं। आचरण की सभ्यता की प्राप्ति के लिये वह सबको एक पथ नहीं बता सकता। आचरण-शील महात्मा स्वयं भी किसी अन्य की बनाई हुई सड़क से नहीं आया; उसने अपनी सड़क स्वयं ही बनाई थी। इसी से उसके बनाए

हुए रास्ते पर चलकर हम भी अपने आचरण को आदर्श के ढाँचे मे नहीं ढाल सकते। हमें अपना रास्ता अपने ही जीवन की कुदाली की एक एक चोट से रात दिन बनाना पड़ेगा और उसी पर चलना भी पड़ेगा। हर किसी को अपने देश-कालानुसार रामप्राप्ति के लिये अपनी नैया आप ही चलानी भी पड़ेगी।

यदि मुझे ईश्वर का ज्ञान नहीं तो ऐसे ज्ञान ही से क्या प्रयोजन? जब तक मैं अपना हथौड़ा ठीक ठीक चलाता हूँ और रूपहीन लोहे को तलवार के रूप में गढ़ देता हूँ तब तक यदि मुझे ईश्वर का ज्ञान नहीं तो न होने दो। उस ज्ञान से मुझे प्रयोजन ही क्या? जब तक मैं अपना उद्धार ठीक और शुद्ध रीति से किए जाता हूँ तब तक यदि मुझे आध्यात्मिक पवित्रता का मान नहीं तो न होने दो। उससे सिद्धि ही क्या हो सकती है? जब तक किसी जहाज के कप्तान के हृदय में इतनी वीरता भरी हुई है कि वह महाभयानक समय में भी अपने जहाज को नहीं छोड़ता तब तक यदि वह मेरी और तेरी दृष्टि में शराबी और स्त्रैण है तो उसे वैसा होने दो। उसकी बुरी बातों से हमें प्रयोजन ही क्या? आँधी हो—बरफ हो—बिजली की कड़क हो—समुद्र का तूफान हो—वह दिन रात आँख खोले अपने जहाज की रक्षा के लिये जहाज के पुल पर घूमता हुआ अपने धर्म का पालन करता है। वह अपने जहाज के साथ समुद्र में डूब जाता है, परंतु अपना जीवन

बचाने के लिये कोई उपाय नहीं करता। क्या उसके आच-रण का यह अंश मेरे-तेरे विस्तर और आसन पर बैठे बिठाए कहे हुए निरर्थक शब्दों के भाव से कम महत्त्व का है?

न मैं किसी गिरजे में जाता हूँ और न किसी मंदिर में; न मैं नमाज पढ़ता हूँ और न रोजा ही रखता हूँ; न संध्या ही करता हूँ और न कोई देवपूजा ही करता हूँ; न किसी आचार्य के नाम का मुझे पता है और न किसी के आगे मैंने सिर ही झुकाया है। इन सबसे प्रयोजन ही क्या और हानि भी क्या? मैं तो अपनी खेती करता हूँ; अपने हल और बैलों को प्रातःकाल उठकर प्रणाम करता हूँ; मेरा जीवन जंगल के पेड़ों और पक्षियों की संगति में बीतता है; आकाश के बादलों को देखते देखते मेरा दिन निकल जाता है। मैं किसी को धोखा नहीं देता; हाँ, यदि, मुझे कोई धोखा दे तो उससे मेरी कोई हानि नहीं। मेरे खेत मे अन्न उग रहा है; मेरा घर अन्न से भरा है; बिस्तर के लिये मुझे एक कमली काफी है, कमर के लिये एक लँगोटी और सिर के लिये एक टोपी बस है। हाथ-पाँव मेरे बलवान् हैं; शरीर मेरा नीरोग है; भूख खूब लगती है; बाजरा और मकई, छाछ और दही, दूध और मक्खन मुझे और मेरे बच्चों के लिये खाने को मिल जाता है। क्या इस किसान की सादगी और सचाई में वह मिठास नहीं जिसकी प्राप्ति के लिये भिन्न भिन्न धर्म-संप्रदाय लंबी-चौड़ी और चिकनी-चुपड़ी बातों द्वारा दीक्षा दिया करते हैं?

जब साहित्य, संगीत और कला की अति ने रोम को घोड़े से उतारकर मखमल के गद्दों पर लिटा दिया--जब आलस्य और विषय-विकार की लंपटता ने जंगल और पहाड़ की साफ हवा के असभ्य और उद्दंड जीवन से रोमवालों का मुख मोड़ दिया तब रोम नरम तकियों और बिस्तरों पर ऐसा सोया कि अब तक न आप जागा और न कोई उसे जगा ही सका ऐंग्लो-सैक्सन जाति ने जो उच्च पद प्राप्त किया वह उसने अपने समुद्र, जंगल और पर्वत से संबंध रखनेवाले जीवन से ही प्राप्त किया। इस जाति की उन्नति लड़ने भिड़ने, मरने मारने, लूटने और लूटे जाने, शिकार करने और शिकार होनेवाले जीवन का ही परिणाम है। लोग कहते हैं केवल धर्म ही जाति को उन्नत करता है। यह ठीक है, परंतु वह धर्म्मांकुर, जो जाति को उन्नत करता है, इस असभ्य, कमीने और पाप-मय जीवन की गंदी राख के ढेर के ऊपर नहीं उगता है। मंदिरों और गिरजों की मंद मंद टिमटिमाती हुई मोमबत्तियों की रोशनी से यूरोप इस उच्चावस्था को नहीं पहुँचा। वह कठोर जीवन, जिसको देशदेशांतरों को ढूँढ़ते फिरते रहने के बिना शांति नहीं मिलती, जिसकी अंतर्ज्वाला दूसरी जातियों को जीतने, लूटने, मारने और उन पर राज करने बिना मंद नहीं पड़ती--केवल वही विशाल जीवन समुद्र की छाती पर मूँग दलकर और पहाड़ों को फाँदकर उनको उस महानता की ओर ले गया और ले जा रहा है। राबिन हुड की प्रशंसा में इँगलैंड के

जो कवि अपनी सारी शक्ति खर्च कर देते हैं उन्हें तत्त्वदर्शी कहना चाहिए; क्योंकि राबिन हुड जैसे भौतिक पदार्थों से ही नेलसन और वेलिंगटन जैसे अँगरेज वीरों की हड्डियाँ तैयार हुई थीं। लड़ाई के आजकल के सामान—गोले, बारूद, जंगी जहाज और तिजारती बेड़ों आदि—को देखकर कहना पड़ता है कि इनसे वर्तमान सभ्यता से भी कहीं अधिक उच्च सभ्यता का जन्म होगा।

यदि यूरोप के समुद्रों में जंगी जहाज मक्खियों की तरह न फैल जाते और यूरोप का घर घर सोने और हीरे से न भर जाता तो वहाँ पदार्थ-विद्या के सच्चे आचार्य और ऋषि कभी न उत्पन्न होते। पश्चिमीय ज्ञान से मनुष्य मात्र को लाभ हुआ है। ज्ञान का वह सेहरा—बाहरी सभ्यता की अंतर्वर्तिनी आध्यात्मिक सभ्यता का वह मुकुट—जो आज मनुष्य जाति ने पहन रखा है यूरोप को कदापि न प्राप्त होता, यदि धन और तेज को एकत्र करने के लिये यूरोपनिवासी इतने कमीने न बनते। यदि सारे पूर्वी जगत् ने इस महत्ता के लिये अपनी शक्ति से अधिक भी चंदा देकर सहायता की तो बिगड़ क्या गया? एक तरफ जहाँ यूरोप के जीवन का एक अंश असभ्य प्रतीत होता है—कमीना और कायरता से भरा हुआ मालूम होता है—वहाँ दूसरी ओर यूरोप के जीवन का वह भाग, जिसमें विद्या और ज्ञान के ऋषियों का सूर्य्य चमक रहा है, इतना महान् है कि थोड़े ही समय में पहले अंश को मनुष्य अवश्य ही भूल जायँगे।

धर्म और आध्यात्मिक विद्या के पौधे को ऐसी आरोग्य-वर्धक भूमि देने के लिये, जिससे वह प्रकाश वायु में और खिलता रहे, सदा फूलता रहे, सदा फलता रहे, यह आवश्यक है कि बहुत से हाथ एक अनंत प्रकृति के ढेर को एकत्र करते रहें। धर्म की रक्षा के लिये क्षत्रियों को सदा ही कमर बाँधे हुए सिपाही बने रहने का भी तो यही अर्थ है। यदि कुल समुद्र का जल उड़ा दो तो रेडियम धातु का एक कण कहीं हाथ लगेगा। आचरण का रेडियम—क्या एक पुरुष का, और क्या जाति का, और क्या एक जगत् का—सारी प्रकृति को खाद बनाए बिना—सारी प्रकृति को हवा में उड़ाए बिना भला कब मिलने का है? प्रकृति को मिथ्या करके नहीं उड़ाना; उसे उड़ाकर मिथ्या करना है। समुद्रों में डोरा डाल-कर अमृत निकाला है। सो भी कितना? जरा सा! संसार की खाक छानकर आचरण का स्वर्ण हाथ आता है। क्या बैठे बिठाए भी वह मिल सकता है?

हिंदुओं का संबंध यदि किसी प्राचीन असभ्य जाति के साथ रहा होता तो उनके वर्त्तमान वंश में अधिक बलवान् श्रेणी के मनुष्य होते—तो उनके भी ऋषि, पराक्रमी, जनरल और धीर वीर पुरुष उत्पन्न होते। आजकल तो वे उपनिषदों के ऋषियों के पवित्रता-मय प्रेम के जीवन को देख देखकर अहंकार में मग्न हो रहे हैं और दिन पर दिन अधोगति की ओर जा रहे हैं। यदि वे किसी जंगली जाति की संतान होते

तो उनमे भी ऋषि और बलवान् योद्धा होते। ऋषियों को पैदा करने के योग्य असभ्य पृथ्वी का बन जाना तो आसान है; परंतु ऋषियों को अपनी उन्नति के लिये राख और पृथ्वी बनाना कठिन है; क्योंकि ऋषि तो केवल अनंत प्रकृति पर सजते हैं; हमारी जैसी पुष्प-शय्या पर मुरझा जाते हैं। माना कि प्राचीन काल मे, यूरोप मे, सभी असभ्य थे; परंतु आजकल तो हम असभ्य हैं। उनकी असभ्यता के ऊपर ऋषि-जीवन की उच्च सभ्यता फूल रही है और हमारे ऋषियों के जीवन के फूल की शय्या पर आजकल असभ्यता का रंग चढ़ा हुआ है। सदा ऋषि पैदा करते रहना, अर्थात् अपनी ऊँची चोटी के ऊपर इन फूलों को सदा धारण करते रहना ही जीवन के नियमों का पालन करना है।

तारागणों को देखते देखते भारतवर्ष अब समुद्र मे गिरा कि गिरा। एक कदम और, और धड़ाम से नीचे! कारण इसका केवल यही है कि यह अपने अटूट स्वप्न मे देखता रहा है और निश्चय करता रहा है कि मैं रोटी के बिना जी सकता हूँ; हवा में पद्मासन जमा सकता हूँ; पृथ्वी से अपना आसन उठा सकता हूँ; योगसिद्धि द्वारा सूर्य्य और ताराओं के गूढ़ भेदों को जान सकता हूँ; समुद्र की लहरों पर बेखटके सो सकता हूँ। यह इसी प्रकार के स्वप्न देखता रहा; परंतु अब तक न संसार ही की और न राम ही की दृष्टि में ऐसी एक भी बात सत्य सिद्ध हुई। यदि अब भी इसकी निद्रा न खुली

तो बेधड़क शंख फूँक दो ! कूच का घड़ियाल बजा दो ! कह दो भारतवासियों का इस असार संसार से कूच हुआ !

लेखक का तात्पर्य केवल यह है कि आचरण केवल मन के स्वप्नों से कभी नहीं बना करता। उसका सिर तो शिलाओं के ऊपर घिस घिसकर बनता है; उसके फूल तो सूर्य्य की गरमी और समुद्र के नमकीन पानी से बारंबार भींगकर और सूखकर अपनी लाली पकड़ते हैं।

हजारों साल से धर्म-पुस्तकें खुली हुई हैं। अभी तक उनसे तुम्हें कुछ विशेष लाभ नहीं हुआ। तो फिर अपने हठ में क्यों मर रहे हो ? अपनी अपनी स्थिति को क्यों नहीं देखते ? अपनी अपनी कुदाली हाथ में लेकर क्यों आगे नहीं बढ़ते ? पीछे मुड़ मुड़कर देखने से क्या लाभ ? अब तो खुले जगत् में अपने अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा छोड़ दो। तुममें से हर एक को अपना अश्वमेध करना है। चलो तो सही। अपने आपकी परीक्षा करो।

धर्म के आचरण की प्राप्ति यदि ऊपरी आडंबरों से होती तो आजकल भारत-निवासी सूर्य्य के समान शुद्ध आचरणवाले हो जाते। भाई ! माला से तो जप नहीं होता। गंगा नहाने से तो तप नहीं होता। पहाड़ों पर चढ़ने से प्राणायाम हुआ करता है, समुद्र में तैरने से नेती धुलती है; आँधी, पानी और साधारण जीवन के ऊँच-नीच, गरमी-सरदी, गरीबी-अमीरी को झेलने से तप हुआ करता है। आध्यात्मिक धर्म के स्वप्नों

की शोभा तभी भली लगती है जब आदमी अपने जीवन का धर्म पालन करे। खुले समुद्र में अपने जहाज पर बैठकर ही समुद्र की आध्यात्मिक शोभा का विचार होता है। भूखे को तो चंद्र और सूर्य भी केवल आटे की बड़ी बड़ी दो रोटियाँ प्रतीत होते हैं। कुटिया में बैठकर ही धूप, आँधी और बर्फ की दिव्य शोभा का आनंद आ सकता है। प्राकृतिक सभ्यता के आने ही पर मानसिक सभ्यता आती है और तभी स्थिर भी रह सकती है। मानसिक सभ्यता के होने पर ही आचरण-सभ्यता की प्राप्ति संभव है, और तभी वह स्थिर भी हो सकती है। जब तक निर्धन पुरुष पाप से अपना पेट भरता है तब तक धनवान् पुरुष के शुद्धाचरण की पूरी परीक्षा नहीं। इसी प्रकार जब तक अज्ञानी का आचरण अशुद्ध है, तब तक ज्ञानवान् के आचरण की पूरी परीक्षा नहीं—तब तक जगत् में, आचरण की सभ्यता का राज्य नहीं।

आचरण की सभ्यता का देश ही निराला है। उसमें न शारीरिक झगड़े हैं, न मानसिक, न आध्यात्मिक। न उसमे विद्रोह है; न जंग ही का नामोनिशान है और न वहाँ कोई ऊँचा है, न नीचा। न कोई वहाँ धनवान् है और न कोई वहाँ निर्धन। वहाँ तो प्रेम और एकता का अखंड राज्य रहता है।

जिस समय बुद्धदेव ने स्वयं अपने हाथों से हाफिज शीराजी का सीना उलटकर उसे मौन-आचरण का दर्शन कराया उस समय फारस में सारे बौद्धों को निर्वाण के दर्शन

हुए और सब के सब आचरण की सभ्यता के देश को प्राप्त हो गए।

जब पैगंबर मुहम्मद ने ब्राह्मण को चीरा और उनके मौन आचरण को नंगा किया तब सारे मुसलमानों को आश्चर्य हुआ कि काफिर में मोमिन किस प्रकार गुप्त था ? जब शिव ने अपने हाथ से ईसा के शब्दों को परे फेंककर उसकी आत्मा के नंगे दर्शन कराए तब हिंदू चकित हो गए कि वह नग्न करने अथवा नग्न होनेवाला उनका कौन सा शिव था ? हम तो एक दूसरे मे छिपे हुए हैं। हर एक पदार्थ को परमाणुओं मे परिणत करके उसके प्रत्येक परमाणु में अपने आपको ढूँढ़ना—अपने आपको एकत्र करना—अपने आचरण को प्राप्त करना है। आचरण की प्राप्ति एकता की दशा की प्राप्ति है। चाहे फूलों की शय्या हो चाहे काँटों की; चाहे निर्धन हो चाहे धनवान्; चाहे राजा हो चाहे किसान; चाहे रोगी हो चाहे नीरोग—हृदय इतना विशाल हो जाता है कि उसमें सारा संसार बिस्तर लगाकर आनंद से आराम कर सकता है; जीवन आकाशवत् हो जाता है और नाना रूप और रंग अपनी अपनी शोभा में बेखटके निर्भय होकर स्थित रह सकते हैं। आचरणवाले नयनों का मौन व्याख्यान केवल यह है—"सब कुछ अच्छा है, सब कुछ भला है"। जिस समय आचरण की सभ्यता संसार में आती है उस समय नीले आकाश से मनुष्य को वेद-ध्वनि सुनाई देती है, नर-नारी पुष्पवत् खिलते जाते हैं;

प्रभात हो जाता है, प्रभात का गजर बज जाता है, नारद की वीणा अलापने लगती है, ध्रुव का शंख गूँज उठता है, प्रह्लाद का नृत्य होता है, शिव का डमरू बजता है, कृष्ण की बाँसुरी की धुन प्रारंभ हो जाती है। जहाँ ऐसे शब्द होते हैं, जहाँ ऐसे पुरुष रहते हैं, जहाँ ऐसी ज्योति होती है, वहीं आचरण की सभ्यता का सुनहरा देश है। वही देश मनुष्य का स्वदेश है। जब तक घर न पहुँच जाय, सोना अच्छा नहीं, चाहे वेदों में, चाहे इंजील में, चाहे कुरान में, चाहे त्रिपिटक में, चाहे इस स्थान मे, चाहे उस स्थान में, कहीं भी सोना अच्छा नहीं। आलस्य मृत्यु है। लेख तो पेड़ों के चित्र सदृश होते हैं, पेड़ तो होते ही नहीं जो फल लावे। लेखक ने यह चित्र इसलिये अंकित किया है कि इस चित्र को देखकर शायद कोई असली पेड़ को जाकर देखने का यत्न करे।

—पूर्णसिंह

---

(१२) मजदूरी और प्रेम

हल चलानेवाले का जीवन

हल चलाने और भेड़ चरानेवाले प्रायः स्वभाव से ही साधु होते हैं। हल चलानेवाले अपने शरीर का हवन किया करते हैं। खेत उनकी हवनशाला है। उनके हवनकुंड की ज्वाला की किरणें चावल के लंबे और सुफेद दानों के रूप में निकलती हैं। गेहूँ के लाल लाल दाने इस अग्नि की चिनगारियों की डालियाँ सी हैं। मैं जब कभी अनार के फूल और फल देखता हूँ तब मुझे बाग के माली का रुधिर याद आ जाता है। उसकी मेहनत के कण जमीन मे गिरकर उगे हैं, और हवा तथा प्रकाश की सहायता से वे मीठे फलों के रूप मे नजर आ रहे हैं। किसान मुझे अन्न में, फूल मे, फल में आहुति हुआ सा दिखाई देता है। कहते हैं, ब्रह्माहुति से जगत् पैदा हुआ है। अन्न पैदा करने में किसान भी ब्रह्मा के समान हैं। खेती उसके ईश्वरी प्रेम का केंद्र है। उसका सारा जीवन पत्ते पत्ते में, फूल फूल में, फल फल मे बिखर रहा है। वृक्षों की तरह उसका भी जीवन एक तरह का मौन जीवन है। वायु, जल, पृथ्वी, तेज और आकाश की नीरोगता इसी के हिस्से मे है। विद्या यह नहीं पढ़ा; जप और तप यह नहीं करता; संध्या-वंदनादि

इसे नहीं आते; ज्ञान, ध्यान का इसे पता नहीं; मसजिद, गिरजे, मंदिर से इसे सरोकार नहीं; केवल साग-पात खाकर ही यह अपनी भूख निवारण कर लेता है। ठंढे चश्मे और बहती हुई नदियों के शीतल जल से यह अपनी प्यास बुझा लेता है। प्रातःकाल उठकर यह अपने हल बैलों को नमस्कार करता है और हल जोतने चल देता है। दोपहर की प इसे भाती है। इसके बच्चे मिट्टी ही में खेल खेलकर बड़े हो जाते हैं। इसको और इसके परिवार को बैल और गावों से प्रेम है। उनकी यह सेवा करता है। पानी बरसानेवाले के दर्शनार्थ इसकी आँखें नीले आकाश की ओर उठती हैं। नयनों की भाषा में यह प्रार्थना करता है। सायं और प्रातः, दिन और रात, विधाता इसके हृदय में अचिंतनीय और अद्भुत आध्यात्मिक भावों की वृष्टि करता है। यदि कोई इसके घर आ जाता है तो यह उसको मृदु वचन, मीठे जल और अन्न से तृप्त करता है। धोखा यह किसी को नहीं देता। यदि इसको कोई धोखा दे भी दे, तो उसका इसे ज्ञान नहीं होता; क्योंकि इसकी खेती हरी भरी है; गाय इसको दूध देती है; स्त्री इसकी आज्ञाकारिणी है; मकान इसका पुण्य और आनंद का स्थान है। पशुओं को चराना, नहलाना, खिलाना, पिलाना, उनके बच्चों की अपने बच्चों की तरह सेवा करना, खुले आकाश के नीचे उनके साथ रातें गुजार देना क्या स्वाध्याय से कम है? दया, वीरता और प्रेम जैसा इन किसानों में देखा

जाता है, अन्यत्र मिलने का नहीं। गुरु नानक ने ठीक कहा है—"भोले भाव मिलें रघुराई।" भोले-भाले किसानों को ईश्वर अपने खुले दीदार का दर्शन देता है। उनकी फूस की छतों में से सूर्य्य और चंद्रमा छन छनकर उनके बिस्तरों पर पड़ते हैं। ये प्रकृति के जवान साधु हैं। जब कभी मैं इन बे मुकुट के गोपालों का दर्शन करता हूँ, मेरा सिर स्वयं ही झुक जाता है। जब मुझे किसी फकीर के दर्शन होते हैं तब मुझे मालूम होता है कि नंगे सिर, नगे पाँव, एक टोपी सिर पर, एक लँगोटी कमर मे, एक काली कमली कंधे पर, एक लंबी लाठी हाथ में लिए हुए गौवों का मित्र, बैलों का हम-जोली, पक्षियों का हमराज, महाराजाओं का अन्नदाता, बाद-शाहों को ताज पहनाने और सिंहासन पर बिठानेवाला, भूखों और नंगों का पालनेवाला, समाज के पुष्पोद्यान का माली और खेतों का वाली जा रहा है।

गड़रिए का जीवन

एक बार मैंने एक बुड्ढे गड़रिए को देखा। घना जंगल है। हरे हरे वृक्षों के नीचे उसकी सुफेद ऊनवाली भेड़ें अपना मुँह नीचा किए हुए कोमल कोमल पत्तियाँ खा रही हैं। गड़रिया बैठा आकाश की ओर देख रहा है। ऊन कातता जाता है। उसकी आँखों मे प्रेम-लाली छाई हुई है। वह नीरोगता की पवित्र मदिरा से मस्त हो रहा है। बाल उसके

सारे सुफेद हैं। और, क्यों न सुफेद हों ? सुफेद भेड़ों का मालिक जो ठहरा। परंतु उसके कपोलों से लाली फूट रही है। बरफानी देशों में वह मानों विष्णु के समान क्षीरसागर में लेटा है। उसकी प्यारी स्त्री उसके पास रोटी पका रही है। उसकी दो जवान कन्याएँ उसके साथ जंगल जंगल भेड़ चराती घूमती हैं। अपने माता-पिता और भेड़ों को छोड़कर उन्होंने किसी और को नहीं देखा। मकान इनका बेमकान है; घर इनका बेघर है; ये लोग बेनाम और बेपता है।

किसी घर में न घर कर बैठना इस दरे फानी में।
ठिकाना बेठिकाना और मकाँ बर ला-मकाँ रखना॥

इस दिव्य परिवार को कुटी की जरूरत नहीं। जहाँ जाते हैं, एक घास की झोपड़ी बना लेते हैं। दिन को सूर्य्य और रात को तारागण इनके सखा हैं।

गड़रिए की कन्या पर्वत के शिखर के ऊपर खड़ी सूर्य्य का अस्त होना देख रही है। उसकी सुनहली किरणें इसके लावण्यमय मुख पर पड़ रही हैं। वह सूर्य्य को देख रही है और वह इसको देख रहा है।

हुए थे आँखों के कल इशारे इधर हमारे उधर तुम्हारे।
चले थे अश्कों के क्या फवारे इधर हमारे उधर तुम्हारे॥

बोलता कोई भी नही। सूर्य्य उसकी युवावस्था की पवित्रता पर मुग्ध है और वह आश्चर्य के अवतार सूर्य्य की महिमा के तूफान में पड़ी नाच रही है।

इनका जीवन बर्फ की पवित्रता से पूर्ण और वन की सुगंधि से सुगंधित है। इनके मुख, शरीर और अंतःकरण सुफेद, इनकी बर्फ, पर्वत और भेड़ें सुफेद। अपनी सुफेद भेड़ों में यह परिवार शुद्ध सुफेद ईश्वर के दर्शन करता है।

जो खुदा को देखना हो तो मैं देखता हूँ तुमको।
मैं देखता हूँ तुमको जो खुदा को देखना हो॥

भेड़ों की सेवा ही इनकी पूजा है। जरा एक भेड़ बीमार हुई, सब परिवार पर विपत्ति आई। दिन रात उसके पास बैठे काट देते हैं। उसे अधिक पीड़ा हुई तो इन सब की आँखें शून्य आकाश में किसी को देखते देखते गल गईं। पता नहीं ये किसे बुलाती हैं। हाथ जोड़ने तक की इन्हें फुरसत नहीं। पर, हाँ, इन सबकी आँखें किसी के आगे शब्द-रहित, संकल्प-रहित मौन प्रार्थना में खुली हैं। दो रातें इसी तरह गुजर गईं। इनकी भेड़ अब अच्छी है। इनके घर मंगल हो रहा है। सारा परिवार मिलकर गा रहा है। इतने में नीले आकाश पर बादल घिर आए और झम झम बरसने लगे। मानों प्रकृति के देवता भी इनके आनंद से आनंदित हुए। बूढ़ा गड़रिया आनंद-मत्त होकर नाचने लगा। वह कहता कुछ नहीं; पर किसी दैवी दृश्य को उसने अवश्य देखा है। वह फूले अंग नहीं समाता, रग रग उसकी नाच रही है। पिता को ऐसा सुखी देख दोनों कन्याओं ने एक दूसरे का हाथ पकड़कर पहाड़ी राग अलापना आरंभ कर दिया।

साथ ही धम धम थम थम नाच की उन्होंने धूम मचा दी। मेरी आँखों के सामने ब्रह्मानंद का समाँ बांध दिया। मेरे पास मेरा भाई खड़ा था। मैंने उससे कहा—"भाई, अब मुझे भी भेड़ें ले दो।" ऐसे ही मूक जीवन से मेरा भी कल्याण होगा। विद्या को भूल जाऊँ तो अच्छा है। मेरी पुस्तकें खो जावें तो उत्तम है। ऐसा होने से कदाचित् इस वनवासी परिवार की तरह मेरे दिल के नेत्र खुल जायँ और मैं ईश्वरीय झलक देख सकूँ। चंद्र और सूर्य्य की विस्तृत ज्योति मे जो वेदगान हो रहा है उसे इस गड़रिए की कन्याओं की तरह मैं सुन तो न सकूँ, परंतु कदाचित् प्रत्यक्ष देख सकूँ। कहते हैं, ऋषियों ने भी, इनको देखा ही था, सुना न था। पंडितों की ऊटपटाँग बातों से मेरा जी उकता गया है। प्रकृति की मंद मंद हँसी में ये अनपढ़ लोग ईश्वर के हँसते हुए ओंठ देख रहे हैं। पशुओं के अज्ञान मे गंभीर ज्ञान छिपा हुआ है। इन लोगों के जीवन में अद्भुत आत्मानुभव भरा हुआ है। गड़-रिए के परिवार की प्रेम-मजदूरी का मूल्य कौन दे सकता है?

मजदूर की मजदूरी

आपने चार आने पैसे मजदूर के हाथ में रखकर कहा—"यह लो दिन भर की अपनी मजदूरी"। वाह क्या दिल्लगी है! हाथ, पाँव, सिर, आँखें इत्यादि सब के सब अवयव उसने आपको अर्पण कर दिए। ये सब चीजें उसकी तो थीं ही नहीं, ये तो ईश्वरीय पदार्थ थे। जो पैसे आपने उसको दिए वे भी

आपके न थे। वे ते पृथिवी से निकली हुई धातु के टुकड़े थे; अतएव ईश्वर के निर्म्मित थे। मजदूरी का ऋण ते परस्पर की प्रेम-सेवा से चुकता होता है, अन्न-धन देने से नहीं। वे ते दोनों ही ईश्वर के हैं। अन्न-धन वही बनाता है और जल भी वही देता है। एक जिल्दसाज ने मेरी एक पुस्तक की जिल्द बाँध दी। मैं ते इस मजदूर को कुछ भी न दे सका। परंतु उसने मेरी उम्र भर के लिये एक विचित्र वस्तु मुझे दे डाली। जब कभी मैंने उस पुस्तक को उठाया, मेरे हाथ जिल्दसाज के हाथ पर जा पड़े। पुस्तक देखते ही मुझे जिल्दसाज याद आ जाता है। वह मेरा आमरण मित्र हो गया है, पुस्तक हाथ में आते ही मेरे अंतःकरण मे रोज भरतमिलाप का सा समाँ बँध जाता है।

गाढ़े की एक कमीज को एक अनाथ विधवा सारी रात बैठकर सीती है; साथ ही साथ वह अपने दुःख पर रोती भी है—दिन को खाना न मिला। रात को भी कुछ मयस्सर न हुआ। अब वह एक एक टाँके पर आशा करती है कि कमीज कल तैयार हो जायगी; तब कुछ ते खाने को मिलेगा। जब वह थक जाती है तब ठहर जाती है। सुई हाथ में लिए हुए है, कमीज घुटने पर बिछी हुई है, उसकी आँखों की दशा उस आकाश की जैसी है जिसमें बादल बरसकर अभी अभी बिखर गए हैं। खुली आँखें ईश्वर के ध्यान मे लीन हो रही हैं। कुछ काल के उपरांत "हे राम" कहकर उसने फिर सीना शुरू कर दिया। इस माता और इस बहन की सिली हुई

कमीज मेरे लिये मेरे शरीर का नहीं—मेरी आत्मा का वस्त्र है। इसका पहनना मेरी तीर्थ-यात्रा है। इस कमीज में उस विधवा के सुख-दुःख, प्रेम और पवित्रता के मिश्रण से मिली हुई जीवन-रूपिणी गंगा की बाढ़ चली जा रही है। ऐसी मजदूरी और ऐसा काम—प्रार्थना, संध्या और नमाज से क्या कम है? शब्दों से तो प्रार्थना हुआ नहीं करती। ईश्वर तो कुछ ऐसी ही मूक प्रार्थनाएँ सुनता है और तत्काल सुनता है।

प्रेम-मजदूरी

मुझे तो मनुष्य के हाथ से बने हुए कामों में उनकी प्रेम-मय पवित्र आत्मा की सुगंध आती है। राफल आदि के चित्रित चित्रों में उनकी कला-कुशलता को देख, इतनी सदियों के बाद भी, उनके अंतःकरण के सारे भावों का अनुभव होने लगता है। केवल चित्र का ही दर्शन नहीं, किंतु, साथ ही, उसमें छिपा हुई चित्रकार की आत्मा तक के दर्शन हो जाते हैं। परंतु यंत्रों की सहायता से बने हुए फोटो निर्जीव से प्रतीत होते हैं। उनमें और हाथ के चित्रों में उतना ही भेद है जितना कि बस्ती और श्मशान में।

हाथ की मेहनत से चीज मे जो रस भर जाता है वह भला लोहे के द्वारा बनाई हुई चीज मे कहाँ! जिस आलू को मैं स्वयं बोता हूँ, मैं स्वयं पानी देता हूँ, जिसके इर्द गिर्द की घास-पात खोदकर मैं साफ करता हूँ उस आलू में जो रस मुझे आता है वह टीन में बंद किए हुए अचार मुरब्बे में नहीं आता। मेरा विश्वास है कि जिस चीज में मनुष्य के प्यारे

हाथ लगते हैं, उसमें उसके हृदय का प्रेम और मन की पवित्रता सूक्ष्म रूप से मिल जाती है और उसमें मुर्दे को जिंदा करने की शक्ति आ जाती है। होटल में बने हुए भोजन यहाँ नीरस होते हैं, क्योंकि वहाँ मनुष्य मशीन बना दिया जाता है। परंतु अपनी प्रियतमा के हाथ से बने हुए रूखे सूखे भोजन में कितना रस होता है। जिस मिट्टी के घड़े को कंधों पर उठाकर, मीलों दूर से उसमे मेरी प्रेममग्न प्रियतमा ठंडा जल भर लाती है, उस लाल घड़े का जल जब मैं पीता हूँ तब जल क्या पीता हूँ, अपनी प्रेयसी के प्रेमामृत को पान करता हूँ। जो ऐसा प्रेम-प्याला पीता हो उसके लिये शराब क्या वस्तु है? प्रेम से जीवन सदा गद्गद रहता है। मैं अपनी प्रेयसी की ऐसी प्रेम-भरी, रस-भरी, दिल-भरी सेवा का बदला क्या कभी दे सकता हूँ?

उधर प्रभात ने अपनी सुफेद किरणों से अँधेरी रात पर सुफेदी सी छिटकाई इधर मेरी प्रेयसी, मैना अथवा कोयल की तरह, अपने बिस्तर से उठी। उसने गाय का बछड़ा खोला; दूध की धारों से अपना कटोरा भर लिया। गाते गाते अन्न को अपने हाथों से पीसकर सुफेद आटा बना लिया। इस सुफेद आटे से भरी हुई छोटी सी टोकरी सिर पर; एक हाथ में दूध से भरा हुआ लाल मिट्टी का कटोरा; दूसरे हाथ में मक्खन की हाँड़ी। जब मेरी प्रिया घर की छत के नीचे इस तरह खड़ी होती है तब वह छत के ऊपर की श्वेत प्रभा से भी अधिक आनंददायक, बलदायक, बुद्धिदायक जान पड़ती है।

उस समय वह उस प्रभा से भी अधिक रसीली, अधिक रँगीली, जीती जागती, चैतन्य और आनंदमयी प्रातःकालीन शोभा सी लगती है। मेरी प्रिया अपने हाथ से चुनी हुई लकड़ियों को अपने दिल से चुराई हुई एक चिनगारी से लाल अग्नि मे बदल देती है। जब वह आटे को छलनी से छानती है तब मुझे उसकी छलनी के नीचे एक अद्भुत ज्योति की लौ नजर आती है। जब वह उस अग्नि के ऊपर मेरे लिये रोटी बनाती है तब उसके चूल्हे के भीतर मुझे तो पूर्व दिशा की नभोलालिमा से भी अधिक आनंददायिनी लालिमा देख पड़ती है। यह रोटी नहीं, कोई अमूल्य पदार्थ है। मेरे गुरु ने इसी प्रेम से संयम करने का नाम योग रखा है। मेरा यही योग है।

मजदूरी और कला

आदमियों की तिजारत करना मूर्खों का काम है। सोने और लोहे के बदले मनुष्य को बेचना मना है। आजकल भाफ की कलों का दाम तो हजारों रुपया है, परंतु मनुष्य कौड़ी के सौ सौ बिकते हैं। सोने और चाँदी की प्राप्ति से जीवन का आनंद नहीं मिल सकता। सच्चा आनंद तो मुझे मेरे काम से मिलता है। मुझे अपना काम मिल जाय तो फिर स्वर्गप्राप्ति की इच्छा नहीं, मनुष्य-पूजा ही सच्ची ईश्वर-पूजा है। मंदिर और गिरजे में क्या रखा है? ईंट, पत्थर, चूना कुछ ही कहो—आज से हम अपने ईश्वर की तलाश मंदिर, मसजिद, गिरजा और पोथी में न करेंगे। अब तो

यही इरादा है कि मनुष्य की अनमोल आत्मा में ईश्वर के दर्शन करेंगे। यही आर्ट है—यही धर्म है। मनुष्य के हाथ ही से तो ईश्वर के दर्शन करानेवाले निकलते हैं। मनुष्य और मनुष्य की मजदूरी का तिरस्कार करना नास्तिकता है। बिना काम, बिना मजदूरी, बिना हाथ के कला-कौशल के विचार और चिंतन किस काम के! सभी देशों के इतिहासों से सिद्ध है कि निकम्मे पादड़ियों, मौलवियों, पंडितों और साधुओं का, दान के अन्न पर पला हुआ ईश्वर-चिंतन, अंत में पाप, आलस्य और भ्रष्टाचार में परिवर्तित हो जाता है। जिन देशों में हाथ और मुँह पर मजदूरी की धूल नहीं पड़ने पाती वे धर्म और कला-कौशल में कभी उन्नति नहीं कर सकते। पद्मासन निकम्मे सिद्ध हो चुके हैं। यही आसन ईश्वर-प्राप्ति करा सकते हैं जिनसे जोतने, बोने, काटने और मजदूरी का काम लिया जाता है। लकड़ी, ईंट और पत्थर को मूर्तिमान् करनेवाले लुहार, बढ़ई, मेमार तथा किसान आदि वैसे ही पुरुष हैं जैसे कि कवि, महात्मा और योगी आदि। उत्तम से उत्तम और नीच से नीच काम, सब के सब प्रेम-शरीर के अंग हैं।

निकम्मे रहकर मनुष्यों की चिंतन-शक्ति थक गई है। बिस्तरों और आसनों पर सोते और बैठे मन के घोड़े हार गए हैं। सारा जीवन निचुड़ चुका है। स्वप्न पुराने हो चुके हैं। आजकल की कविता में नयापन नहीं। उसमें पुराने जमाने की कविता की पुनरावृत्ति मात्र है। इस नकल में असल

की पवित्रता और कुँवारेपन का अभाव है। अब तो एक नए प्रकार का कला-कौशल-पूर्ण संगीत साहित्य-संसार में प्रचलित होनेवाला है। यदि वह न प्रचलित हुआ तो मशीनों के पहियों के नीचे दबकर हमें मरा समझिए। यह नया साहित्य मजदूरों के हृदय से निकलेगा। उन मजदूरों के कंठ से यह नई कविता निकलेगी जो अपना जीवन आनंद के साथ खेत की मेड़ों का, कपड़े के तागों का, जूते के टाँकों का, लकड़ी की रगों का, पत्थर की नसों का भेदभाव दूर करेंगे। हाथ मे कुल्हाड़ी, सिर पर टोकरी, नंगे सिर और नंगे पाँव, धूल से लिपटे और कीचड़ से रँगे हुए ये बेजबान कवि जब जंगल मे लकड़ी काटेंगे तब लकड़ी काटने का शब्द इनके असभ्य स्वरों से मिश्रित होकर वायु-यान पर चढ़ दशों दिशाओं में ऐसा अद्भुत गान करेगा कि भविष्यत् के कलावंतों के लिये वही ध्रुपद और मलार का काम देगा। चरखा कातनेवाली स्त्रियों के गीत संसार के सभी देशों के कौमी गीत होंगे। मजदूरों की मजदूरी ही यथार्थ पूजा होगी। कलारूपी धर्म की तभी वृद्धि होगी। तभी नए कवि पैदा होंगे; तभी नए औलियों का उद्भव होगा। परंतु ये सब के सब मजदूरी के दूध से पलेंगे। धर्म, योग, शुद्धाचरण, सभ्यता और कविता आदि के फूल इन्हीं मजदूर-ऋषियों के उद्यान मे प्रफुल्लित होंगे।

मजदूरी और फकीरी

मजदूरी और फकीरी का महत्त्व थोड़ा नहीं। मजदूरी और फकीरी मनुष्य के विकास के लिये परमावश्यक हैं। बिना

मजदूरी किए फकीरी का उच्च भाव शिथिल हो जाता है; फकीरी भी अपने आसन से गिर जाती है; बुद्धि बासी पड़ जाती है। बासी चीजें अच्छी नहीं होतीं। कितने ही, उम्र भर, बासी बुद्धि और बासी फकीरी में मग्न रहते हैं; परंतु इस तरह मग्न होना किस काम का? हवा चल रही है; जल बह रहा है; बादल बरस रहा है; पक्षी नहा रहे हैं; फूल खिल रहा है; घास नई, पेड़ नए, पत्ते नए—मनुष्य की बुद्धि और फकीरी ही बासी! ऐसा दृश्य तभी तक रहता है जब तक बिस्तर पर पड़े पड़े मनुष्य प्रभात का आलस्य-सुख मनाता है। बिस्तर से उठकर जरा बाग की सैर करो, फूलों की सुगंध लो, ठंडी वायु मे भ्रमण करो, वृक्षों के कोमल पल्लवों का नृत्य देखो तो पता लगे कि प्रभात-समय जागना बुद्धि और अंत:करण को तरोताजा करना है, और बिस्तर पर पड़े रहना उन्हें बासी कर देना है। निकम्मे बैठे हुए चिंतन करते रहना, अथवा बिना काम किए शुद्ध विचार का दावा करना, मानों सोते सोते खर्राटे मारना है। जब तक जीवन के अरण्य में पादड़ी, मौलवी, पंडित और साधु-संन्यासी हल, कुदाल और खुरपा लेकर मजदूरी न करेंगे तब तक उनका आलस्य जाने का नहीं, तब तक उनका मन और उनकी बुद्धि, अनंत काल बीत जाने तक, मलिन मानसिक जुआ खेलती ही रहेगी। उनका चिंतन बासी, उनका ध्यान बासी, उनकी पुस्तकें बासी, उनके लेख बासी, उनका विश्वास बासी और उनका खुदा भी बासी हो गया है। इसमें संदेह नहीं

कि इस साल के गुलाब के फूल भी वैसे ही हैं जैसे पिछले साल के थे। परंतु इस सालवाले ताजे हैं। इनकी लाली नई है, इनकी सुगंध भी इन्हीं की अपनी है। जीवन के नियम नहीं पलटते; वे सदा एक ही से रहते हैं। परंतु मजदूरी करने से मनुष्य को एक नया और ताजा खुदा नजर आने लगता है।

गेरुए वस्त्रों की पूजा क्यों करते हो? गिरजे की घंटी क्यों सुनते हो? रविवार क्यों मनाते हो? पाँच वक्त की नमाज क्यों पढ़ते हो? त्रिकाल संध्या क्यों करते हो? मजदूर के अनाथ नयन, अनाथ आत्मा और अनाश्रित जीवन की बोली सीखो। फिर देखोगे कि तुम्हारा यही साधारण जीवन ईश्वरीय भजन हो गया।

मजदूरी तो मनुष्य के समष्टि-रूप का व्यष्टि-रूप परिणाम है, आत्मारूपी धातु के गढ़े हुए सिक्के का नकदी बयाना है, जो मनुष्यों की आत्माओं को खरीदने के वास्ते दिया जाता है। सच्ची मित्रता ही तो सेवा है। उससे मनुष्यों के हृदय पर सच्चा राज्य हो सकता है। जाति-पाँति, रूप-रंग और नाम-धाम तथा बाप-दादे का नाम पूछे बिना ही अपने आपको किसी के हवाले कर देना प्रेमधर्म का तत्त्व है। जिस समाज में इस तरह के प्रेम-धर्म का राज्य होता है उसका हर कोई हर किसी को बिना उसका नाम-धाम पूछे ही पहचानता है; क्योंकि पूछने-वाले का कुल और उसकी जात वहाँ वही होती है जो उसकी, जिससे कि वह मिलता है। वहाँ सब लोग एक ही माता-पिता से पैदा हुए भाई-बहन हैं। अपने ही भाई-बहनों के

माता-पिता का नाम पूछना क्या पागलपन से कम समझा जा सकता है? यह सारा संसार एक कुटुंबवत् है। लँगड़े, लूले, अंधे और बहरे उसी मौरूसी घर की छत के नीचे रहते हैं जिसकी छत के नीचे बलवान्, नीरोग और रूपवान् कुटुंबी रहते हैं। मूढ़ों और पशुओं का पालन-पोषण बुद्धिमान्, सबल और नीरोग ही तो करेंगे। आनंद और प्रेम की राजधानी का सिंहासन सदा से प्रेम और मजदूरी के ही कंधों पर रहता आया है। कामना सहित होकर भी मजदूरी निष्काम होती है; क्योंकि मजदूरी का बदला ही नहीं। निष्काम कर्म करने के लिये जो उपदेश दिए जाते हैं उनमें अभावशील वस्तु सुभावपूर्ण मान ली जाती है। पृथिवी अपने ही अक्ष पर दिन रात घूमती है। यह पृथिवी का स्वार्थ कहा जा सकता है परंतु उसका यह घूमना सूर्य के इर्द गिर्द घूमना तो है और सूर्य के इर्द गिर्द घूमना सूर्यमंडल के साथ आकाश में एक सीधी लकीर पर चलना है। अंत मे, इसका गोल चक्कर खाना सदा ही सीधा चलना है। इसमें स्वार्थ का अभाव है। इसी तरह मनुष्य की विविध कामनाएँ उसके जीवन को मानों उसके स्वार्थरूपी धुरे पर चक्कर देती हैं। परंतु उसका जीवन अपना तो है ही नहीं; वह तो किसी आध्यात्मिक सूर्यमंडल के साथ की चाल है और अंततः यह चाल जीवन का परमार्थ-रूप है। स्वार्थ का यहाँ भी अभाव है। जब स्वार्थ कोई वस्तु ही नहीं तब निष्काम और कामनापूर्ण कर्म करना दोनों ही एक

बात हुई। इसलिये मजदूरी और फकीरी का अन्योन्याश्रय संबंध है।

मजदूरी करना जीवनयात्रा का आध्यात्मिक नियम है। जोन ऑव् आर्क (Joan of Arc) की फकीरी और भेड़ें चराना, टाल्सटाय का त्याग और जूते गाँठना, उमर खैयाम का प्रसन्नतापूर्वक तंबू सीते फिरना, खलीफा उमर का अपने रंग-महलों में चटाई आदि बुनना, ब्रह्मज्ञानी कबीर और रैदास का शूद्र होना, गुरु नानक और भगवान् श्रीकृष्ण का मूक पशुओं को लाठी लेकर हाँकना—सच्ची फकीरी का अनमोल भूषण है।

समाज का पालन करनेवाली दूध की धारा

एक दिन गुरु नानक यात्रा करते करते भाई लालो नाम के एक बढ़ई के घर ठहरे। उस गाँव का भागो नामक रईस बड़ा मालदार था। उस दिन भागो के घर ब्रह्मभोज था। दूर दूर से साधु आए हुए थे। गुरु नानक का आगमन सुनकर भागो ने उन्हें भी निमंत्रण भेजा। गुरु ने भागो का अन्न खाने से इनकार कर दिया। इस बात पर भागो को बड़ा क्रोध आया। उसने गुरु नानक को बलपूर्वक पकड़ मँगाया और उनसे पूछा—आप मेरे यहाँ का अन्न क्यों नहीं ग्रहण करते? गुरुदेव ने उत्तर दिया—भागो, अपने घर का हलवा-पूरी ले आओ तो हम इसका कारण बतला दें। वह हलवा-पूरी लाया तो गुरु नानक ने लालो के घर से भी उसके मोटे अन्न की रोटी मँगवाई। भागो की हलवा-पूरी उन्होंने एक

हाथ में और भाई लालो की मोटी रोटी दूसरे हाथ में लेकर दोनों को जो दबाया तो एक से लोहू टपका और दूसरी से दूध की धारा निकली। बाबा नानक का यही उपदेश हुआ। जो धारा भाई लालो की मोटी रोटी से निकली थी वही समाज का पालन करनेवाली दूध की धारा है। यही धारा शिवजी की जटा से और यही धारा मजदूरों की उँगलियों से निकलती है।

मजदूरी करने से हृदय पवित्र होता है; संकल्प दिव्य लोकांतर में विचरते हैं। हाथ की मजदूरी ही से सच्चे ऐश्वर्य्य की उन्नति होती है। जापान में मैंने कन्याओं और स्त्रियों को ऐसी कलावती देखा है कि वे रेशम के छोटे छोटे टुकड़ों को अपनी दस्तकारी की बदौलत हजारों की कीमत का बना देती हैं, नाना प्रकार के प्राकृतिक पदार्थों और दृश्यों को अपनी सुई से कपड़े के ऊपर अंकित कर देती हैं। जापान-निवासी कागज, लकड़ी और पत्थर की बड़ी अच्छी मूर्त्तियाँ बनाते हैं। करोड़ों रुपए के हाथ के बने हुए जापानी खिलौने विदेशों मे बिकते हैं। हाथ की बनी हुई जापानी चीजें मशीन से बनी हुई चीजों को मात करती हैं। संसार के सब बाजारों में उनकी बड़ी माँग रहती है। पश्चिमी देशों के लोग हाथ की बनी हुई जापान की अद्भुत वस्तुओं पर जान देते हैं। एक जापानी तत्त्वज्ञानी का कथन है कि हमारी दस करोड़ उँगलियाँ सारे काम करती हैं। इन उँगलियों ही के बल से, संभव है हम जगत् को जीत लें। ("We shall beat the world with

the [illegible] fingers")जब तक धन और ऐश्वर्य्य की जन्म-दात्री हाथ की कारीगरी की उन्नति नहीं होती तब तक भारतवर्ष ही की क्या, किसी भी देश या जाति की दरिद्रता दूर नहीं हो सकती। यदि भारत की तीस करोड़ नर-नारियों की उँगलियाँ मिलकर कारीगरी के काम करने लगें तो उनकी मजदूरी की बदौलत कुवेर का महल उनके चरणों में आप ही आप आ गिरे।

अन्न पैदा करना, तथा हाथ की कारीगरी और मिहनत से जड़ पदार्थों को चैतन्य-चिह्न से सुसज्जित करना, क्षुद्र पदार्थों को अमूल्य पदार्थों में बदल देना इत्यादि कौशल ब्रह्मरूप होकर धन और ऐश्वर्य्य की सृष्टि करते हैं। कविता, फकीरी और साधुता के ये दिव्य कला-कौशल जीते जागते और हिलते डुलते प्रतिरूप हैं। इनकी कृपा से मनुष्य-जाति का कल्याण होता है। ये उस देश में कभी निवास नहीं करते जहाँ मज-दूर और मजदूर की मजदूरी का सत्कार नहीं होता; जहाँ शूद्र की पूजा नहीं होती। हाथ से काम करनेवालों से प्रेम रखने और उनकी आत्मा का सत्कार करने से साधारण मजदूरी सुंदरता का अनुभव करानेवाले कला-कौशल, अर्थात् कारीगरी, का रूप हो जाती है। इस देश में जब मजदूरी का आदर होता था तब इसी आकाश के नीचे बैठे हुए मजदूरों के हाथों ने भगवान् बुद्ध के निर्वाण-सुख को पत्थर पर इस तरह जड़ा था कि इतना काल बीत जाने पर, पत्थर की मूर्ति के ही दर्शन से ऐसी शांति प्राप्त होती है जैसी कि स्वयं भगवान् बुद्ध के दर्शन से होती है।

मुँह, हाथ, पाँव इत्यादि का गढ़ देना साधारण मजदूरी है; परंतु मन के गुप्त भावों और अंतःकरण की कोमलता तथा जीवन की सभ्यता को प्रत्यक्ष प्रकट कर देना प्रेम-मजदूरी है। शिवजी के तांडव नृत्य को और पार्वतीजी के मुख की शोभा को पत्थरों की सहायता से वर्णन करना जड़ को चैतन्य बना देना है। इस देश में कारीगरी का बहुत दिनों से अभाव है। महमूद ने जो सोम-नाथ के मंदिर में प्रतिष्ठित मूर्तियाँ तोड़ी थीं उससे उसकी कुछ भी वीरता सिद्ध नहीं होती। उन मूर्तियों को तो हर कोई तोड़ सकता था। उसकी वीरता की प्रशंसा तब होती जब वह यूनान की प्रेम-मजदूरी, अर्थात् वहाँवालों के हाथ की अद्वितीय कारी-गरी प्रकट करनेवाली मूर्तियाँ तोड़ने का साहस कर सकता। वहाँ की मूर्तियाँ तो बोल रही हैं—वे जीती जागती हैं, मुर्दा नहीं। इस समय के देवस्थानों में स्थापित मूर्तियाँ देखकर अपने देश की आध्यात्मिक दुर्दशा पर लज्जा आती है। उनसे तो यदि अनगढ़ पत्थर रख दिए जाते तो अधिक शोभा पाते। जब हमारे यहाँ के मजदूर, चित्रकार तथा लकड़ी और पत्थर पर काम करनेवाले भूखों मरते हैं तब हमारे मंदिरों की मूर्तियाँ कैसे सुंदर हो सकती हैं? ऐसे कारीगर तो यहाँ शूद्र के नाम से पुकारे जाते हैं। याद रखिए, बिना शूद्र-पूजा के मूर्ति-पूजा किंवा कृष्ण और शालग्राम की पूजा होना असंभव है। सच तो यह है कि हमारे सारे धर्म-कर्म बासी ब्राह्मणत्व के छिछोरेपन से दरिद्रता को प्राप्त हो रहे हैं। यही कारण है जो आज हम जातीय दरिद्रता से पीड़ित हैं।

पश्चिमी सभ्यता का एक नया आदर्श

पश्चिमी सभ्यता मुख मोड़ रही है। वह एक नया आदर्श देख रही है। अब उसकी चाल बदलने लगी है। वह कलों की पूजा को छोड़कर मनुष्यों की पूजा को अपना आदर्श बना रही है। इस आदर्श के दर्शानेवाले देवता रस्किन और टालसटाय आदि हैं। पाश्चात्य देशों में नया प्रभात होनेवाला है। वहाँ के गंभीर विचारवाले लोग इस प्रभात का स्वागत करने के लिये उठ खड़े हुए हैं। प्रभात होने के पूर्व ही उसका अनुभव कर लेनेवाले पक्षियों की तरह इन महात्माओं को इस नए प्रभात का पूर्व ज्ञान हुआ है। और, हो क्यों न ? इंजनों के पहियों के नीचे दबकर वहाँवालों के भाई बहन—नहीं नहीं, उनकी सारी जाति पिस गई; उनके जीवन के धुरे टूट गए; उनका समस्त धन घरों से निकलकर एक ही दो स्थानों में एकत्र हो गया। साधारण लोग मर रहे हैं; मजदूरों के हाथ-पांव फट रहे हैं; लहू चल रहा है! सरदी से ठिठुर रहे हैं। एक तरफ दरिद्रता का अखंड राज्य है; दूसरी तरफ अमीरी का चरम दृश्य। परंतु अमीरी भी मानसिक दुःखों से विमर्दित है। मशीनें बनाई तो गई थीं मनुष्यों का पेट भरने के लिये—मजदूरों को सुख देने के लिये—परंतु वे काली काली मशीनें ही काली बनकर उन्हीं मनुष्यों का भक्षण कर जाने के लिये मुख खोल रही हैं। प्रभात होने पर ये काली काली बलाएँ दूर होंगी। मनुष्य के सौभाग्य का सूर्योदय होगा।

शोक का विषय है कि हमारे और अन्य पूर्वी देशों मे लोगों को मजदूरी से तो लेशमात्र भी प्रेम नहीं, पर वे तैयारी कर रहे हैं पूर्वोक्त काली मशीनों का आलिंगन करने की। पश्चिमवालों के तो ये गले पड़ी हुई बहती नदी की काली कमली हो रही हैं। वे छोड़ना चाहते हैं, परंतु काली कमली उन्हे नहा छोड़ती। देखेंगे, पूर्ववाले इस कमली को छाती से लगाकर कितना आनंद अनुभव करते हैं। यदि हममें से हर आदमी अपनी दस उँगलियों की सहायता से साहसपूर्वक अच्छी तरह काम करे तो हमी, मशीनों की कृपा से बढे हुए परिश्रमवालों को, वाणिज्य के जातीय संग्राम में सहज ही पछाड़ सकते हैं। सूर्य तो सदा पूर्व ही से पश्चिम की ओर जाता है। पर, आओ पश्चिम मे आनेवाली सभ्यता के नए प्रभात को हम पूर्व से भेजे।

इंजनों की वह मजदूरी किस काम की जो बच्चों, स्त्रियों और कारीगरों को हो भूखा नंगा रखती है, और केवल सोने, चाँदी, लोहे आदि धातुओं का हो पालन करती है। पश्चिम को विदित हो चुका है कि इनसे मनुष्य का दुःख दिन पर दिन बढ़ता है। भारतवर्ष जैसे दरिद्र देश में मनुष्य के हाथों को मजदूरी के बदले कलों से काम लेना काल का डंका बजाना होगा। दरिद्र प्रजा और भी दरिद्र होकर मर जायगी। चेतन से चेतन की वृद्धि होती है। मनुष्य को तो मनुष्य ही सुख दे सकता है। परस्पर की निष्कपट सेवा ही से मनुष्य-जाति का कल्याण हो सकता है। धन एकत्र करना तो मनुष्य-जाति के

आनंद-मंगल का एक साधारण सा और महा तुच्छ उपाय है। धन की पूजा करना नास्तिकता है; ईश्वर को भूल जाना है; अपने भाई-बहनों तथा मानसिक सुख और कल्याण के देनेवालों को मारकर अपने सुख के लिये शारीरिक राज्य की इच्छा करना है; जिस डाल पर बैठे हैं उसी डाल को स्वयं ही कुल्हाड़े से काटना है। अपने प्रिय जनों से रहित राज्य किस काम का? प्यारी मनुष्य-जाति का सुख ही जगत् के मंगल का मूल साधन है। बिना उसके सुख के अन्य सारे उपाय निष्फल हैं। धन की पूजा से ऐश्वर्य, तेज, बल और पराक्रम नहीं प्राप्त होने का। चैतन्य आत्मा की पूजा से ही ये पदार्थ प्राप्त होते हैं। चैतन्य-पूजा ही से मनुष्य का कल्याण हो सकता है। समाज का पालन करनेवाली दूध की धारा जब मनुष्य के प्रेममय हृदय, निष्कपट मन और मित्रतापूर्ण नेत्रों से निकलकर बहती है तब वही जगत् में सुख के खेतों को हरा-भरा और प्रफुल्लित करती है और वही उनमें फल भी लगाती है। आओ, यदि हो सके तो, टोकरी उठाकर कुदाली हाथ में लें। मिट्टी खोदें और अपने हाथ से उसके प्याले बनावें। फिर एक एक प्याला घर घर में, कुटिया कुटिया में रख आवें और सब लोग उसी में मजदूरी का प्रेमामृत पान करें।

है रीत आशकों की तन मन निसार करना।
रोना सितम उठाना और उनको प्यार करना॥

—पूर्णसिंह